अतुला तुला

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

मुनि नथमल

अतुला तुला

अनुवादक/संपादक
मुनि दुलहराज

आशीर्वचन

'अतुला तुला' संस्कृत भाषा की एक सजी-संवरी कृति है। इसका प्रारम्भ प्राकृत भाषा मे है, किन्तु उसे आत्मनिवेदन की भूमिका पर प्रतिष्ठित मान लिया जाए तो असंस्कृत जैसा कुछ नही रहेगा।

मुनि नथमलजी हमारे धर्म-संघ के विशिष्ट मेधावी सन्तो मे अग्रेगावा हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी की भाति देवभाषा संस्कृत भी इनके अधिकार मे है। श्रुतज्ञान की सफलता उपासना के परिणामस्वरूप संस्कृत मे 'आशु कवित्व' जैसी दुर्लभ क्षमता इन्हें सहज उपलब्ध है।

संस्कृत भाषा मे मेरी अभिरुचि है। इस अभिरुचि की प्रेरणा से ही मैंने अनेक साधु-साध्वियो को इस क्षेत्र मे निष्णात बनाने का स्वप्न देखा। मेरा स्वप्न फला। अनेक प्रतिभाए प्रकाश मे आयी। प्रतिभाओ को प्रोत्साहन मिला और तेरापथ संघ संस्कृत भाषा का विशेष केन्द्र बन गया।

मुनि नथमलजी द्वारा विभिन्न प्रसंगो पर संस्कृत भाषा मे आबद्ध और आशु कविता के निर्झर से प्रवाहमान काव्य-संकलन की प्रस्तुति संस्कृत साहित्य की सुखद उपलब्धि है। संस्कृत भाषाविद् और संस्कृतानुरागी सुधी पाठक 'अतुला तुला' के पठन-पाठन से अपनी प्रतिभा को नई स्फुरणा दें इसी शुभ-कामना के साथ

लाडनूं
२०३२, फाल्गुन कृष्णा अष्टमी

आचार्य तुलसी

स्व-कथ्य

शरीर मे निवास करने वाला भगवान् है 'सयम' और मस्तिष्क मे रहने वाला सद्विचार है 'परमात्मा'। सद्विचारो का सकलन ही सत-साहित्य है।

सत वह होता है जो जगल मे जाकर एकान्त साधना मे जुट जाए। वह भी सत होता है जो भौतिक आकर्षणो के बीच रहता हुआ भी अनाकर्पित रहे। चारो ओर होने वाले तुमुल मे जीता हुआ भी अशब्द रहे, बोलता हुआ भी मौन रहे और स्थिर रहता हुआ भी गतिमान् रहे।

सत गुनगुनाते हैं, वह स्तुति बन जाती है। वे लिखते हैं, वह आत्मा का प्रतिबिम्ब हो जाता है। उनकी वाणी और कर्म आत्म-प्रत्यक्षीकरण के लिए होते हैं। उनकी आराधना आनन्द के लिए होती है।

प्रस्तुत कृति 'अतुला तुला' मे एक मनीषी योगी के तीस-पैंतीस वर्षों के अन्तराल मे अभिव्यक्ति पाने वाले विभिन्न विचारो का सकलन है। मुनिश्री आशुकवि और प्रखर दार्शनिक हैं। इन्होंने अपनी आशुकवित्व के द्वारा सस्कृत के धुरन्धर विद्वानो को चमत्कृत किया है। तत्काल प्रदत्त विषयो पर सस्कृत-कविता मे बोलना, प्रदत्त समस्याओ की तत्काल पूर्ति करना—इनकी अपनी विशेषता है।

पडित-वर्ग कसौटी का हामी होता है। वह प्रत्येक को कसौटी पर कसता है। हम बनारस गए। सस्कृत महाविद्यालय के प्रागण मे प्रवचन आयोजित हुआ। 'स्याद्वाद' विषय पर पडितो, प्राध्यापको तथा विद्यार्थियो ने सुनना चाहा। मुनिश्री ने लगभग एक घटे तक सहज सरल सस्कृत भाषा मे प्रवचन किया। उपस्थित पडितो मे से कुछ प्रसन्न हुए और कुछ अप्रसन्न। उन्होंने मुनिश्री को प्रश्नो के कटघरे मे ला खडा कर दिया। सस्कृत मे ही प्रश्न और सस्कृत मे ही उत्तर। क्रम चलता रहा। प्रश्नो के बाद आशुकवित्व के लिए विषय दिए गए। विषयो के पश्चात् समस्याए दी जाने लगी। मुनिश्री अविचल भाव से कविता करते गए। न वे थके और न ये थके। सारी परिषद् अवाक् और मन्त्रमुग्ध। परिषद् के सदस्यो ने देखा—एक जैन श्रमण सस्कृतज्ञो के गढ मे आकर बिना

पराजित हुए चला जा रहा है। कुछ स्थितिपालक विद्वानो ने गुनगुनाया—'इस सत ने कुछ सिद्धि प्राप्त कर रखी है।' कुछ ने कहा—'इसे कर्णपिशाचिनी का इप्ट प्रतीत होता है।' कुछ ने कुछ कहा और कुछ ने कुछ। पडितो मे मानसिक द्वेष उभरा। वह वाणी मे उतरा। कर्म मे उसका प्रतिबिम्ब दृग्गोचर होने लगा। मुनिश्री शान्त और उपशान्त। सूर्यास्तमन की वेला। प्रतिक्रमण का समय। चुनौती। पाच-सात सत उसी प्रागण मे रह गए। रात्रि का आगमन। पडितो की प्रतीक्षा। कोई नही आया। कुछ विद्यार्थी आए। उन्होने कहा—'महाराज ! आपने वाजी जीत ली।'

पूना। लोगो ने आचार्यश्री से निवेदन किया—'आप यहा अधिक न रुकें। यहा विशेष कार्यक्रम न रखें। यह सस्कृतज्ञो की नगरी है। कही आपको· ·' आचार्यश्री के मन पर इस कथन का विपरीत असर हुआ। उन्हे अपनी शिष्य-सपदा की योग्यता पर पूरा विश्वास था। वह जाग उठा। कार्यक्रम आयोजित हुए। विद्यातिलकपीठ मे कार्यक्रम रखा गया। सारा सभा-स्थल विद्वत् मडली से भर गया। विद्वानो का मन कुतूहल से परिपूर्ण था। एक श्रमण नेता के सान्निध्य मे यह पहली विशाल परिषद् थी। आचार्यश्री का प्रवचन हुआ। आचार्यश्री ने आशुकवि मुनि नथमलजी का परिचय दिया और आशुकवित्व के लिए विषय और समस्याए देने के लिए विद्वानो से कहा। कई विपय और समस्याए दी गईं। मुनिश्री ने आशु कविता की। सभी विद्वानो ने मुनिश्री की सस्कृत-साधना की भूरि-भूरि प्रशसा की।

इसी प्रकार वाग्वर्धिनी सभा, पूना मे एक आयोजन रखा गया। आचार्यश्री के प्रवचनोपरान्त डॉ० के० एन० वाटवे ने 'घडी' विपय पर स्रग्धरा छद मे आशु कविता करने के लिए मुनिश्री से अनुरोध किया। मुनिश्री ने तत्काल खडे होकर चार श्लोक कहे। सारी सभा चित्रवत्।

इस प्रकार प्रस्तुत कृति मे मुनिश्री की सस्कृत भापा की स्फुट रचनाए, जो विक्रम सवत् १९९८ से २०३२ के अन्तराल मे रची गईं, सकलित हैं। रचनाओ के साथ रचना-काल और रचना-स्थल का निर्देश भी दे दिया गया है।

साहित्य-सर्जन मुनिश्री का प्रमुख कर्म नही है। प्रमुख कर्म है—आत्मा की सन्निधि प्राप्त करने का प्रयत्न। वह निरतर चलता है। इस निरतर गतिमत्ता मे इन्होने बहुत पाया और बहुत दिया। इन्होने दिया ही दिया है, लिया कुछ भी नही। यदि कही कुछ लिया भी है तो उसे हजार गुना कर पुन लौटा दिया।

ये समर्पित हैं। इनका समर्पण प्रत्यादान की भावना से रहित है, इसीलिए वह मूक है। व्यवहार यह मानता है कि इस योगी मनीषी ने दिया अधिक, लिया कम।

यह लेखा-जोखा व्यवहार का है। आत्मा की सन्निधि पाने के इच्छुक साधक मे वह नही होता। वह चलता है अपनी गति से और फलता है अपनी मति से।

मुनिश्री पुरुषार्थ के प्रतीक हैं। इनका पुरुषार्थ तीनो आराधनाओ मे प्रखर हुआ है—

१ इन्होंने अपने ज्ञान को आत्मा से अनुबधित कर ज्ञान की आराधना की।

२ इन्होने अपनी श्रद्धा को आत्मा मे केन्द्रित कर दर्शन की आराधना की।

३ इन्होने समस्त कर्म को आत्मा की परिक्रमा मे प्रेरित कर चारित्र की आराधना की।

इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना मे अपना समूचा जीवन समर्पित कर स्वय के साथ-साथ इन्होंने समूचे तेरापथ सघ को लाभान्वित किया है।

इन रचनाओ मे शाश्वतिक सत्य भरा है। अध्यात्म और जीवन-दर्शन का समन्वय उसका एक बिन्दु है। यह बिन्दु एक बिन्दु होकर भी सिन्धु-सा गहरा और विशाल है। अध्यात्म से हटकर हम इनकी रचनाओ की व्याख्या नही कर सकते।

इन दो दशको मे मुनिश्री की पचास-साठ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। प्रकाशित साहित्य बहु-आयामी है। हिन्दी मे आपने बहुत लिखा। सस्कृत मे तीन ग्रन्थ—मुकुलम्, अश्रुवीणा और सबोधि—प्रकाशित हो चुके हैं और यह चौथा ग्रन्थ है। अनेक ग्रन्थ अप्रकाशित हैं। प्राकृत भाषा मे अनेक स्फुट रचनाओ के अतिरिक्त 'तुलसी मञ्जरी' के नाम से प्राकृत भाषा का एक व्याकरण-ग्रन्थ रचा। वह भी अप्रकाशित है।

वर्तमान मे आचार्य तुलसी के वाचनाप्रमुखत्व मे सचालित जैन आगम अनुसधान कार्य के आप प्रधान निर्देशक और विवेचक हैं। आगम-ग्रन्थो के आधुनिक सपादन और विवेचन के लिए जैन जगत्, विशेषत तेरापथ सघ, आपकी सेवाओ को कभी नही भुला पाएगा।

चिरकाल से मेरी यह अभिलाषा थी कि मुनिश्री के स्फुट सस्कृत साहित्य का मैं अनुवाद करू। आज मेरी यह अभिलाषा पूर्ण हुई है। इस कार्य मे मैं कहा तक सफल हुआ हू, यह पाठक ही बता पायेंगे।

सरस्वती के वरद पुत्र की साहित्यिक उपलब्धियो का शत-शत अभिनन्दन।

लाडनू
२०३२ फाल्गुन

मुनि दुलहराज

प्रस्तावना

मैं ग्यारह वर्ष की अवस्था मे मुनि वना था और तव से ही पदयात्री। जीवन-यात्रा वाहर और भीतर—दोनो का स्पर्श करती है। मैं मुनि हू इसलिए मैंने वाह्य-जगत् से अस्पृष्ट रहने का प्रयत्न किया है, फिर भी वस्तु-जगत् मे जीने वाला कोई भी देहधारी वाह्य का स्पर्श किए विना नही रहता। अन्तश्चेतना घटना से जुडे या न जुडे, किन्तु मन उसका स्पर्श और उसके फलितो का विश्लेषण भी करता है। प्रतिक्रिया से लिप्त होना या न होना अलग प्रश्न है, किन्तु उसका साक्षात् होता ही है। मैंने अन्तर्यात्रा भी की है, अन्तश्चेतना के आलोक मे वाह्य-जगत् को समझने का प्रयत्न किया है। मैं सिद्ध होने का दावा नही करता, इसलिए इस वास्तविकता को स्वीकार करता हू कि वाह्य-जगत् मे घटित होने वाली घटनाओ से प्रभावित भी हुआ हू, उनके आघातो से आहत और प्रतिक्रियाओ से प्रताडित भी हुआ हू। प्रभाव, आहनन और प्रताडन के क्षणो मे जो सवेदन जागा, भावनाए प्रस्फुटित हुई और वाणी ने मौन भग किया, वही मेरा कवित्व है।

मैं वहुत छोटे गाव (टमकोर—राजस्थान) मे जन्मा था। उस जमाने मे वहा पढाई का कोई खास प्रवध नही था। मैं और मेरे कुछ साथी गुरजी की पाठशाला मे पढते थे—न हिन्दी और न सस्कृत, केवल पहाडे। मुनि वनते ही पढाई का क्रम शुरू हुआ। मैं प्राकृत और सस्कृत के ग्रन्थ पढने लगा। पूज्य कालूगणी के निर्देशानुसार मुनि तुलसी (वर्तमान मे आचार्य तुलसी) मेरे अध्यापक वने। उस समय अध्यापन-परिपाटी मे ग्रन्थो को कठस्थ करने पर अधिक वल था। मैंने कुछ ही वर्षों मे अनेक ग्रन्थ कठस्थ कर लिये, पर समझने की क्षमता विकसित नही हुई। सोलह वर्ष की अवस्था पार करते-करते मैंने कुछ विकास का अनुभव किया। सस्कृत भाषा मे कुछ-कुछ वोलना और लिखना शुरू हुआ। सतरहवें वर्ष मे कुछ श्लोक वनाए। अव मुनि तुलसी आचार्य वन चुके थे। उनके आचार्य पदारोहण का दूसरा समारोह था। उस समय वे श्लोक मैंने पढे। मन्त्री मुनि मगनलालजी

स्वामी ने मुझे बहुत प्रोत्साहित किया। उस प्रोत्साहन से सस्कृत मे लिखने की रुचि बढ गई। फिर कुछ ऐसा बना कि मैं प्राय सस्कृत मे ही लिखने लगा।

प्रस्तुत सकलन मे इक्कीस वर्ष की अवस्था से अब तक—पैंतीस वर्ष की स्फुट रचनाए सकलित हैं। इनके पीछे एक इतिहास की शृखला है। अच्छा होता कि प्रत्येक रचना की पृष्ठभूमि मे रही हुई स्फुरणा का इतिहास मैं लिख पाता। पर काल की इस लम्बी अवधि मे जो कुछ घटित हुआ वह पूरा का पूरा स्मृति-पटल पर अकित नही है। जो कुछ अकित है उसको लिपिबद्ध करने का भी अवकाश मैं नही निकाल पाया। कुछेक स्फुरणाओ को मैं उल्लिखित करना चाहता हू। उनके आधार पर यह समझा जा सकता है कि कवित्व स्फुरणा की फलश्रुति होता है।

मैं एक कमरे मे बैठा था। सामने छोटे से छज्जे पर कबूतर बैठे थे। सूर्यास्त हो चुका था। अधेरा गहरा हो रहा था। कबूतर उस छोटे-से छज्जे पर अपने पजे टिकाकर पर फडफडा रहे थे। उस फडफडाहट ने मेरा ध्यान आकर्षित किया। उसी समय मैं सवेदना के स्वर मे बोल उठा—

"अनन्तलीला प्रथमे क्षणे तु,
छदौ गृहाणा स्थितिरुत्तरस्मिन्।
दिने च रात्रौ च कियान् प्रभेद,
इद कपोता हि विदन्ति नान्ये।"

'पहले क्षण मे अनन्त आकाश मे उडने वाले ये कबूतर दूसरे क्षण मे घर के छोटे से छज्जे पर आ बैठते है। दिन और रात मे कितना अन्तर होता है—इसे कबूतर (या पक्षी) ही समझ सकते है। दूसरे नही समझ सकते।'

मैं एक बार शौच के लिए जा रहा था। जैसे ही गाव को पार कर बाहर गया वैसे ही एक गधा रेंकता हुआ सामने आया। उसकी ध्वनि बडी कर्कश थी। वह कान के पर्दो को बीधती हुई भीतर जा रही थी। मैं उससे आहत हुए बिना नही रहा। मैंने उस गधे को सम्बोधित करते हुए कहा—

"रे रे खर! तूर्ष्णी भव,
दृष्ट तवककौशलम्।
दुर्लभा वाग्मिता चेत्ते,
कर्णौ किं सुलभौ नृणाम्॥"

—गधे! मौन हो जा। मैंने तेरा वाक्-कौशल देख लिया। यदि तेरा वाक्-कौशल दुर्लभ है तो क्या मनुष्यो के कानो के पर्दे सुलभ है?

मैं आचार्यश्री तुलसी द्वारा रचित 'जैन सिद्धान्त दीपिका' का सम्पादन कर रहा था। किसी गहन विषय की स्पष्टता के लिए अनेक ग्रन्थ देखने पडे।

लगातार घटो तक मैं समस्या मे उलझा रहा। फलत थकान से चूर हो गया। उस समय मैं नगर के बाहर बगीचे मे गया और थकान मिटाने के लिए कुछ श्लोक बनाए। उनमे से एक श्लोक यह है—

"आनन्दस्तव रोदनेऽपि सुकवे ! मे नास्ति तद्व्याकृतौ,
दृष्टदार्शनिकस्य सप्रवदतो जाता समस्यामयी।
किं सत्य त्विति चिन्तया हृतमते क्वानन्दवार्ता तव,
तत् सत्य मम यत्र नन्दति मनो नैका हि भूरावयो ॥"

दार्शनिक का प्रतिनिधित्व करते हुए मैंने कवि से कहा—'कविशेखर ! तुम्हारे रोने मे भी आनन्द है और आनन्द की व्याख्या करने मे भी मुझे आनन्द नही आता। मैं जैसे-जैसे आनन्द को समझने और उसकी व्याख्या करने का प्रयास करता हू, वैसे-वैसे मेरी दृष्टि समस्याओ से भर जाती है।'

कवि ने कहा—'दार्शनिक ! तुम इस बात मे उलझ जाते हो कि सत्य क्या है। तुम्हारी बुद्धि उसी मे लग जाती है। तुम्हारे लिए आनन्द की बात ही कहा ? किन्तु मेरा अपना सूत्र यह है कि जिसमे मन आनन्दित हो जाए, वही सत्य है। इससे मेरे लिए सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। दार्शनिक ! तुम्हारी और मेरी भूमिका एक नही है।'

प्रस्तुत सकलन के सभी श्लोक सहज स्फुरणा से स्फूर्त नही है। आशुकवित्व मे समस्या और विषय से प्रतिबद्ध होकर चला हू। कुछ विद्वानो ने आश्चर्यभाव से, कुछ ने चमत्कारभाव से और कुछ ने परीक्षाभाव से भी समस्याए दी। इसलिए उनकी पूर्ति मे कही-कही कविकर्म की अपेक्षा बौद्धिकता का योग अधिक है। विषयपूर्ति मे छन्द की प्रतिबद्धता नही होती किन्तु समस्यापूर्ति मे छन्द भी प्रतिबद्ध होता है।

कुछ रचनाए स्वतन्त्र अनुभूति के क्षणो मे लिखी हुई हैं। उनके पीछे कोई घटना, प्रकृति का पर्यवेक्षण या कोई विशिष्ट प्रसग नही है। उन रचनाओ को शुद्ध काव्य कहने की अपेक्षा दर्शन-सपुटित काव्य कहना अधिक सगत होगा।

इस सकलन मे अनेक क्षणो मे रचित रचनाए सकलित हैं। देश-काल के परिवर्तन के साथ उनकी भाषा, शैली और अभिव्यजना मे भी अन्तर है। आचार्यश्री तुलसी ने विभिन्न प्रदेशो की यात्राओ मे आशुकवित्व को अधिक व्यापक बना दिया। अनेक आशुकविताए सुरक्षित नही रह सकी। आचार्यश्री के प्रवचन के विशेष आयोजन होते। उनमे प्राय आशुकवित्व का उपक्रम रहता। आचार्यश्री का प्रोत्साहन होता और लोगो की माग। इसलिए यह स्वाभाविक ही था। बहुत सारे रात्रिकालीन आयोजनो मे की हुई रचनाए लिखी नही जाती और सामान्यत.

उन्हे सकलित करने का निश्चित दृष्टिकोण भी नही था। भरतपुर मे रात्रिकालीन प्रवचन के पश्चात् एक पडित ने आशुकवित्व के लिए एक समस्या दी थी— 'सूच्यग्रे कूपशतक तदुपरि नगरी तत्र गगाप्रवाह ।' इसकी पूर्ति मे की गई आशु कविता तत्काल कोई लिख नही सका। इस प्रकार अनेक समस्याओ की पूर्तिया भी लिपिबद्ध नही की जा सकी। जो कुछ सकलित हुई वे इस सकलन मे प्रस्तुत हैं।

आचार्यश्री तुलसी से मुझे विद्यादान मिला। वे मेरे विद्या-गुरु हैं और आचार्य भी हैं। बीज-वपन और विकास—दोनो मे उनका योग है। उनकी प्रेरणा ने मुझे सतत विकासोन्मुख किया है। उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने की अपेक्षा मैं आन्तरिक समर्पण को ही अधिक महत्त्व देता हू। उनका पथ-दर्शन, अनुग्रह और आशीर्वाद मुझे प्राप्त है, इसे मैं अपना परम सौभाग्य मानता हू।

मुनि शुभकरणजी और मुनि श्रीचन्दजी ने अनेक रचनाओ को सकलित किया, फलत उनका उपयोग हो सका। अत ये दोनो मुनि साधुवादार्ह हैं।

इस पुस्तक का अनुवाद और सपादन मुनि दुलहराजजी ने किया है। अनुवाद प्राञ्जल भाषा, मूलस्पर्शी शैली और आशय की स्पष्टता—इन तीनो विशेषताओ के साथ हुआ है। वे मेरे अनेक ग्रन्थो का अनुवाद और सपादन पहले भी कर चुके हैं। अत सपादन-भार से मैं मुक्त रहता हू, इसका श्रेय उन्हे सहज-लब्ध है।

आचार्यश्री तुलसी के 'दीक्षा कल्याण महोत्सव' के अवसर पर पुरानी स्मृतियो के साथ सस्कृत जैसी प्राचीन भाषा मे काव्य को नई प्रतिभाओ के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मैं प्रसन्नता का अनुभव करता हू।

लाडनू — मुनि नथमल

२०३२, फाल्गुन कृष्णा पचमी

अनुक्रम

प्रथमो विभाग —विविधा

द्वितीयो विभागः—आशुकवित्वम्

तृतीयो विभागः—समस्यापूर्तिः

चतुर्थो विभाग —उन्मेषा

पञ्चमो विभाग —स्तुतिचक्रम्

प्रथमो विभागः

विविधा

१ : अप्पनिवेदणं

सामण्णमेय गहिय ति जाणे,
किमट्ठमेय गहिय न जाणे।
नाण न सव्वत्थपवत्तग ज,
सद्धापगासो परमोत्थि नाणा ॥१॥

'श्रामण्य स्वीकार किया है'—यह मैं जानता हू, किन्तु यह नही जानता कि मैंने श्रामण्य क्यो स्वीकार किया ? ज्ञान सभी अर्थों का प्रवर्तक नही होता। श्रद्धा का प्रकाश ज्ञान के प्रकाश से महत्त्वपूर्ण है।

वालत्तणे णाम अणिच्छयत्थे,
कज्ज कय णो परिणामदसी।
मग्गावरोहो न कुहावि लद्धो,
सद्धापगासो परमोत्थि नाणा ॥२॥

निश्चय करने मे अक्षम बचपन मे मैंने अनेक कार्य किए हैं। मैं उस समय परिणामदर्शी नही था। फिर भी मेरा मार्ग कही भी अवरुद्ध नही हुआ। श्रद्धा का प्रकाश ज्ञान के प्रकाश से महत्त्वपूर्ण है।

विसिट्ठनाणी वि विणीयसीसो,
अच्च च निच्च गुरुणो करेइ।
नाण न सव्वत्थपवत्तग ज,
सद्धापगासो परमोत्थि नाणा ॥३॥

विनीत शिष्य विशिष्ट ज्ञानी होने पर भी सदा गुरु की अर्चा करता है। क्योकि ज्ञान सभी अर्थों का प्रवर्तक नही होता। श्रद्धा का प्रकाश ज्ञान के प्रकाश से महत्त्वपूर्ण है।

बहुस्सुओ भिक्खुवरो करेइ,
गिलाणकज्ज अगिलाणभावा।
नाण न सव्वत्थपवत्तग ज,
सद्धापगासो परमोत्थि नाणा ।।४।।

बहुश्रुत भिक्षु ग्लान की सेवा अग्लान भाव से करता है। ज्ञान सभी अर्थों का प्रवर्तक नही होता। श्रद्धा का प्रकाश ज्ञान के प्रकाश से महत्त्वपूर्ण है।

तक्कप्पहाणो वि महामणीसी,
बुड्ढस्स पुज्जस्स सुयप्पगस्स।
आण अखड पकरेइ सक्ख,
सद्धापगासो परमोत्थि नाणा ।।५।।

तर्क-प्रधान महामनीषी शिष्य भी अल्पश्रुत अपने वृद्ध पूज्य की आज्ञा का साक्षात् रूप से अखड आराधन करता है। श्रद्धा का प्रकाश ज्ञान के पकाश से महत्त्वपूर्ण है।

णाणेण हु णाणुसओ म्हि णिच्च,
सद्धा उ णिच्च अणुचारिणी मे।
वत्तो पि हु तेण इण च मन्ने,
सद्धापगासो परमोत्थि नाणा ।।६।।

ज्ञान ने मेरा सदा अनुसरण नही किया, किन्तु श्रद्धा सदा मेरी अनुचारिणी रही है। अत मैं व्यक्त होने पर भी यह मानता हू कि श्रद्धा का प्रकाश ज्ञान के प्रकाश से महत्त्वपूर्ण है।

न जत्थ नाण कुणई पगास,
निच्चधयारे गुविले मणस्स।
तत्थावि सद्धा कुणई पगास,
सद्धापगासो परमोत्थि नाणा ।।७।।

सदा सघन अन्धकार से व्याप्त मन के गहन जगल मे जहा ज्ञान प्रकाश नही कर पाता, वहा भी श्रद्धा प्रकाश फैला देती है। श्रद्धा का प्रकाश ज्ञान के प्रकाश से महत्त्वपूर्ण है।

अचक्खुगाण इणमत्थि चक्खू,
अपायगाण चरण इण च।
सद्धाविहीणस्स मणस्स देमे,
णो वारिह वोत्तुमिण ति भव्व ॥८॥

यह श्रद्धा नेत्रहीन व्यक्तियो के लिए नेत्र और चरणहीन व्यक्तियो के लिए चरण है। श्रद्धाविहीन मन के प्रदेश मे यह भव्य है, ऐसा नही कहा जा सकता।

जो अत्तवीसासपगासपत्तो,
तेणधयारो सयलो वि तिण्णो।
राओ वि णो तारिसमधयार,
सदेहघत्तस्स जहा दिणे वि ॥९॥

जिसने आत्म-विश्वास का प्रकाश पा लिया उसने समूचे अधकार का पार पा लिया। रात्रि मे भी वैसा अधकार नही होता जैसा अधकार दिन मे भी सदेह-शील व्यक्ति के होता है।

मणप्पसाओ विउलो जहत्थि,
मह स सक्को वि परेण लद्धु।
भवे उवालभपरो न भावो,
अणिच्छिए वेस तउज्जुमग्गो ॥१०॥

जैसे मुझे मन की विपुल प्रसन्नता प्राप्त है, उसे दूसरा भी प्राप्त कर सकता है, यदि उसके मन मे अनिश्चित वस्तु के प्रति उपालभ या शिकायत का भाव न हो। प्रसन्नता की प्राप्ति का यह ऋजु मार्ग है।

जइत्थि पच्चक्खमिह भव मह,
तो पक्खपात न पियस्स ससए।
ण तुच्छग सो कुणई महतग,
पर महत पि करेइ तुच्छय ॥११॥

यदि आप वास्तव मे महान् हैं तो प्रिय के प्रति पक्षपात न करें। क्योकि पक्षपात तुच्छ व्यक्ति को महान् नही बना सकता, किन्तु महान् को तुच्छ बना डालता है।

जइत्थि पच्चक्खमिह भव लहू,
तो विद्ध-आण समतिक्कमाहि णो।
फलाणुभूई स्स पर भविस्सई,
तया जया त गुरुओ भविस्ससि ॥१२॥

यदि तुम प्रत्यक्ष ही छोटे हो तो वृद्ध जनो की आज्ञा का अतिक्रमण मत करो। इसकी फलानुभूति तुम्हे तव होगी जब तुम स्वय गुरु वनोगे।

अलद्धलक्खे मणसो पवित्ती,
घणत्तमागच्छइ जारिस च।
न तारिस गच्छइ लद्धलक्खे,
मए समता अणुभूयमेय ॥१३॥

लक्ष्य की उपलब्धि के काल मे मन की प्रवृत्ति जितनी सघन होती है उतनी लक्ष्य के उपलब्ध होने पर नही होती। मैंने सभी क्षेत्रो मे यह अनुभव किया है।

तेणेव सामण्णमुवागएण,
लक्ख पर किंचिऽवधारणीय।
पस्स जणो लक्खमपत्तमित्थ,
सय तदट्ठ घणिय पयाइ ॥१४॥

इसीलिए श्रामण्य मे उपस्थित मुनि को किसी न किसी लक्ष्य का अवधारण कर लेना चाहिए। जब तक लक्ष्य की प्राप्ति नही होगी तब तक वह स्वय बहुत अधिक प्रयत्न करता रहेगा।

तस्सधयारो दिवसे वि अत्थि,
निरिक्खिओ जेण मह न अप्पा।
राओ वि तस्सत्थि मह पगासो,
निरिक्खिओ जेण मह णिअप्पा ॥१५॥

जिसने महान् आत्मा का निरीक्षण नही किया है, उसके लिए दिन मे भी अधकार है और जिसने अपनी महान् आत्मा का निरीक्षण किया है उसके लिए रात मे भी महान् प्रकाश है।

जस्सत्थि पासे च्चिअ अप्पणो पहू,
ण सो जणो णाम परस्सिओ सिया।

ण जेण लद्धो चिअ अप्पणो पहू,
पास पर रुस्सइ तुस्सई सया ॥१६॥

जिसके पास अपना प्रभु विद्यमान् है, वह व्यक्ति कभी भी दूसरे के आश्रित नहीं होता। जिसने अपने प्रभु को नही पाया, वह दूसरे को देखकर रुष्ट या तुष्ट होता रहता है।

आराहिओ होहिइ अप्पणो पहू,
विराहिआ होहिइ खुद्दभावणा।
आराहिआ होहिइ खुद्दभावणा,
विराहिओ होहिइ अप्पणो पहू ॥१७॥

जब अपने प्रभु की आराधना की जाती है, तब क्षुद्र भावना विराधित हो जाती है, नष्ट हो जाती है। जब क्षुद्र भावना की आराधना की जाती है तब अपने प्रभु की विराधना होती है।

पास पियस्सावि जणस्स दोसे,
गुणे य पास तह अप्पियस्स।
अप्प सिणिद्ध पकरेमि नूण,
कहेंति लूह पवर कहेतु ॥१८॥

प्रियजन के दोषो और अप्रियजन के गुणो को देखकर भी मैं अपने आपको स्निग्ध—स्नेहमय बनाए रखता हू। फिर भी मेरे अपने लोग मुझको 'रूक्ष' कहते हैं, भले ही कहें।

गुणे हि पास सयय पियस्स,
दोसे हि पासं तह अप्पियस्स।
अप्प सुलूह पकरेमि नूण,
पर सगा म च कहेंतु निद्ध ॥१९॥

प्रियजनो के गुणो और अप्रियजनो के दोषो को देखकर मैं अपने आपको रूक्ष बना लेता हू फिर भी मेरे अपने लोग मुझको 'स्नेहिल' कहते हैं, भले ही कहें।

नाहिंनि लोगा किमिय ति नच्चा,
कज्ज सुकज्ज पि न त करोसि।

परस्स दिट्ठीइ निरिक्खमाणो,
अप्पाणमेव परततिओ सि ॥२०॥

यदि मैं यह करूगा तो लोग क्या समझेंगे—ऐसा जानकर तुम अच्छे कार्य को भी नही करते। इस प्रकार तुम दूसरे की दृष्टि को देखते हुए अपने आपको परतन्त्र बना डालते हो।

परस्स तोलामि अह तुलाए,
माणेण अन्नस्स निय मिणामि।
पासामि दिट्ठीइ परस्स चे हं,
तो अत्थिभावो पि ण अप्पणोत्थि ॥२१॥

मैं दूसरो की तुला से तोला जाऊ, दूसरो के माप से मापा जाऊ और दूसरो की दृष्टि से देखा जाऊ—इस प्रक्रिया मे स्वय का अस्तित्व-भाव भी नही रह जाता।

एएण सिद्धतविणिच्छएण,
अणेगवार जडिला ठिईवि।
उज्जूकया णेव मण विसण्ण,
अत्थित्तमेवापि सुरक्खिय च ॥२२॥

इस सिद्धान्त को निश्चित कर मैंने अनेक बार जटिल स्थिति को भी सरल बनाया है। इस प्रक्रिया से मेरा मन भी विषण्ण नही हुआ और मैंने अपने अस्तित्व की भी पूर्ण सुरक्षा की।

पढिय गुणिय सुणिय,
भणतस्स होइ जपिरा बुद्धी।
जप्पतस्सणुभूय,
बुद्धी मोण सय समासेइ ॥२३॥

जो व्यक्ति पढे हुए, अभ्यास किए हुए और सुने हुए की बात कहता है, उसकी बुद्धि वाचाल हो जाती है। और जो अपनी अनुभूत बात कहता है उसकी बुद्धि मौन हो जाती है।

सच्च खु सक्ख भवई तया जया,
सद्दस्स जालाविगओ भवामि ह।

सद्दस्स कारागिहत्तिओ जणो,
सव्वत्थ मोह तिमिरं च पासई ॥२४॥

जब मैं शब्द-जाल से छूटता हू तब सत्य का साक्षात्कार होता है। जो व्यक्ति शब्द के कारागृह का बन्दी है, वह सर्वत्र मोह और अन्धकार ही देखता रहता है।

जेणत्थि दिण्णा पवरा सुदिट्ठी,
तेणत्थि मग्गो पवरोत्थ पत्तो।
सुरक्खिआ तेण कयण्णया य,
पइट्ठिओ मे तुलसी तओत्थि ॥२५॥

जिसने मुझे सुदृष्टि दी, उसी ने मुझे सही मार्ग भी दिखाया। मेरी कृतज्ञ भावना भी सुरक्षित रही। मेरे हृदय मे आचार्य तुलसी प्रतिष्ठित हैं।

(वि० २०१९-पौष-रीछेड, मेवाड)

२ : निमेषोन्मेषाः

शून्यम्

पूषाजस्रं गाहते व्योम घस्रे,
रात्रावेते तारका सञ्चरन्ति ।
लब्धा तेनैकापि नालोकरेखा,
नून न स्याच्छून्यताया स्वतेज ॥१॥

दिन मे सूर्य आकाश का अवगाहन करता है और रात मे ये तारे नभ मे विचरण करते हैं, फिर भी आकाश ने एक भी प्रकाश-रेखा प्राप्त नही की। यह ठीक है कि शून्यता मे अपना तेज नही होता।

आलोकमाला क्षिपतेंशुमाली,
व्याप्नोति रुद्रा रजनी तमिस्रा ।
तमोपि तेजोपि समावकाश,
करोति शून्य तत एव शून्यम् ॥२॥

दिन मे सूर्य प्रकाश बिखेरता है और रात मे सारा आकाश अन्धकार से व्याप्त हो जाता है। यह आकाश प्रकाश और अन्धकार को समान रूप से स्थान देता है, इसीलिए यह शून्य है।

निद्रा

निद्रे ! दरिद्रानपि पश्य किञ्चिद्,
निर्वाससो ये निवसन्ति नित्यम् ।
किं शीतभीता धनिनोऽनुयासि,
न वेत्सि भीता हि जडा भवन्ति ॥३॥

नीद ! तू उन दरिद्र मनुष्यो की ओर भी कुछ देख जो बिना वस्त्र के निरन्तर जी रहे हैं। तू ठड से भयभीत होकर धनिको के पास क्यो जाती है ? क्या तू नही जानती कि जो डरते हैं वे जड होते हैं।

निमेषमाधाय समेति निद्रा,
निमेषभाजामथवा भवेत् सा ।
अप्यस्ति यत्रावरण कनीय,
तत्रैव जाड्य च तम प्रवेशि ॥४॥

नीद चक्षु के द्वार बद कर आती है अथवा जिनके चक्षु के द्वार बद होते हैं उनके पास आती है। ठीक ही होता है, जहा थोडा-सा आवरण है, जडता और अधकार वही प्रवेश पाते हैं।

स्नेह

वातस्पर्शं प्राप्य पत्राण्यपीषद्,
शब्दं नृत्य ससृजन्त्युच्छलन्ति ।
पारस्पर्ये मौनभङ्गोपि न स्यात्,
तत् किं स्नेह साहचर्याद् बिभेति ॥५॥

वायु का स्पर्श पाकर ये पत्ते कुछ शब्द कर रहे हैं, नाच रहे हैं और उछल रहे हैं। परस्परता का सगम होने पर भी यदि मौनभग न हो तो आत्मीयता का पता ही क्या चले ? वह क्या स्नेह जो साहचर्य से भय खाए ?

स्नेहोद्भूताऽलोकलेखा पुराभूत्,
नीरोद्भूता साम्प्रत विद्युदेपा।
स्नेहश्चेत चिक्कणत्व चिनोति,
नीर स्नेहक्षालि तत् स्नेहहानि ॥६॥

प्राचीन काल मे प्रकाश की रेखा स्नेह (तैल) से उत्पन्न होती थी और आज वह पानी से उत्पन्न है। स्नेह चित्त को स्निग्ध बनाता है और नीर स्नेह का प्रक्षालन करता है। इसीलिए आज स्नेह की हानि दीख रही है।

दम्भ

आयाता गगनाङ्गणे प्रगुणिता कादम्बिनी दम्भिनी,
व्योम्ना स्थानमदायि सत्कृतियुत प्राच्छाद्य सूर्यं स्थिता।
सारस्य समवप्रदाय परितो भूयो गता मेदिनी,
क्षीण नीरसमात्रमत्र कुणप धिक् दम्भिना चेष्टितम् ॥७॥

आकाश मे यह दम्भिनी मेघमाला उमड आयी। आकाश ने सत्कार करते हुए उसे स्थान दिया। उसने सूर्य को आच्छादित कर दिया। चारो ओर से सरसता लेकर वह भूमि पर गिरी। वह क्षीण हो गई और अब मृत कलेवर मात्र रह गई। धिक्कार है दम्भी व्यक्तियो की चेष्टाओ को।

छिद्रम्

एणी वीणानादनद्धात्मकर्णा,
स्फालालीनाप्याशुरूद्धक्रमाभूत्।
सूक्ष्म छिद्र गामुकत्व रुणद्धि,
निश्छिद्रत्व तेन काम्य प्रगत्याम् ॥८॥

वीणा बज रही थी। एक हरिणी जा रही थी। वह वीणा के स्वरो को सुनने मे आसक्त हो गई। ऊची छलाग भरने वाले उसके पैर रुक गए। उसके कान के एक छोटे-से छिद्र ने उसके गमन को रोक डाला। अत प्रगति के लिए निश्छिद्रता काम्य है।

अवलेप

अब्ज! भृङ्गावलिं वीक्ष्या-
वलिप्त प्रेम वारिणा।
मात्याक्षीस्तद् विना तूर्णं,
ह्येषाऽन्यत्र गमिष्यति ॥९॥

हे कमल! मडराती हुई भौरो की पक्ति से अवलिप्त होकर तू जल से नाता मत तोड। जल से सबध तोड लेने पर यह भ्रमर-पक्ति शीघ्र ही दूसरे स्थान पर चली जाएगी।

आत्मा जडत्वमापन्नो,
गता सरसता क्वचित् ।
ईक्षूणा देहमात्मीय,
दह्यमान प्रपश्यताम् ॥१०॥

आत्मा जड हो गई। सरसता चली गई। तब ईक्षु का अपना शरीर जलने लगा। इसे तुम देखो और समझो।

विजेता

पराजितानामियमेव रीति-
र्गालिप्रदान सतत सृजन्ति।
पराऽजितानामियमेव रीति-
र्गालिप्रदान सतत सहन्ते ॥११॥

जो पराजित हो जाते हैं, उनकी यह विधि है कि वे सतत गाली देते रहते हैं। जो दूसरो के द्वारा विजित नहीं हैं, वे गालियों को सतत सहते रहते हैं।

असग्रह

बिन्दून् बिन्दून् गृहीत्वा सुमधुरपयसो जात एवासि सिन्धु,
गृण्हन् गृण्हन् पुनर्वा दददपि च ददत् क्षार एवासि बन्धो!
अग्राहे बाह्यरूप न भवति विपुल किन्तु माधुर्यमत्र,
वक्षो व्याप्नोति नून न वहननिवह सग्रहे व्यत्ययो हि ॥१२॥

हे समुद्र! तू मीठे पानी की एक-एक बूद लेकर सिन्धु बना है। हे बन्धो! तू जल का दान करके भी खारा बना हुआ है, क्योकि तू सग्रह में विमुक्त नही है। जो बाहर से कुछ भी ग्रहण नही करता, उसका बाह्य रूप भले ही विपुल न हो, किन्तु वह मधुर होता है। जो व्यक्ति सग्रह करता है उसका बाह्य रूप विपुल हो सकता है, पर वह मधुर नहीं होता और उसकी छाती पर वाहन-समूह चलते रहते हैं।

सिन्धो! साम्राज्यवाद व्यपनय नयत शास्ति तत्र प्रजाना,
गृण्हन् दाय गिरिभ्योऽनुभवसि न शम सग्रहोन्मत्तचेता ।

प्रादुर्भूतोऽस्ति भूम्या निधनकर इत पश्य ससत्प्रकाशे,
हिन्दूकोडाभिधोय स्फुरति विधिरतो मुञ्च पत्नीरनल्पा ॥१३॥

हे समुद्र ! तू साम्राज्यवाद को छोड दे। देख, आज प्रजातन्त्र न्यायदृष्टि से शासन कर रहा है। तू पर्वतो से दाय भाग (दहेज) लेता हुआ भी शाति का अनुभव नही कर रहा है क्योकि तेरा चित्त सग्रह करने मे उन्मत्त है। ससद् के प्रकाश मे तू देख, इधर मृत्यु-कर लग गया है और उधर 'हिन्दूकोड बिल' भी चालू हो गया है। अत तू सग्रह और बहुपत्नी-प्रथा को छोड दे।

३ : स्वतन्त्रताया विवेक:

आराधय रे आराधय,
रे कुसुम ! विटपिन साधय।
स्वगत परिपूर्णविकास,
मा दूरीभूय विराधय।
परिकर एवासि तरोरिति, सत्य नासि स्वाधीनम्।
आलोचय परिहार्यैन, किं भावीतरथा पीनम्।
शोभा त्व भूमिरुहस्य, शोभा त्व भूवलयस्य।
शोभा त्व सद्हृदयस्य, शोभा त्व सुरनिलयस्य।
त्वा प्राप्य कबर्यो वर्या,
सुकवीना प्रिय ! सुमतिं नय ॥१॥

मन्द मन्द पवनोय, कर्णेजपता विदधाति।
य सम्प्रति वार वार, शाखाया त्वामायाति।
किन्तु स्मर रे स्मर भावुक ! दुर्गतिमेषोपि विधाता।
त्वा धूलिधूसर कृत्वा, स्वयमाशु सुदूर याता।
मौलावास्पदमर्हसि रे !,
मा भूमिपातमभिवादय ॥२॥

नाय खलु तरुरनुदारो, यो वृणुयादपराभ्युदयम्।
पूर्णावयवे त्वयि जाते, स्वयमेष विघातानुनयम्।
माली स्वागुलिमाधुन्वन्, स्वायत्त त्वामिह कृत्वा।
मालापरिणतिमाधाय, महतामपि हृदय नीत्वा।

अमृतत्व नेष्यति नून ।
पन्थानममुञ्च सभाजय ।।३।।

हे कुसुम ! तू वृक्ष की आराधना कर। तू उसे साध। तेरे मे पूर्ण विकसित होने की जो शक्ति विद्यमान् है, वृक्ष से दूर होकर उस शक्ति को मत गवा।

यह सत्य है कि तू वृक्ष का ही एक अग है। तू स्वतन्त्र नही है। तू यह सोच कि क्या वृक्ष के विना तू विकसित हो सकता था ? तू वृक्ष की शोभा है। तू भूमडल की शोभा है। तू सहृदयालु व्यक्तियो की शोभा है। तू स्वर्ग की शोभा है। तुझे प्राप्त कर केशराशि मनोरम वन जाती है। हे कवियो के प्रिय सुमन ! तू सुमति का सहारा ले।

देख, धीरे-धीरे वहने वाला यह पवन तेरे कान मे कुछ गुनगुना रहा है। यह आज वार-वार तेरी शाखा के पास आता है। किन्तु भावुक सुमन ! तू याद रख, याद रख। यही एक दिन तेरी दुर्गति करेगा। तुझे यह मिट्टी मे मिला कर स्वय शीघ्र ही दूर भाग जाएगा। सुमन ! तू सिर पर धारण करने योग्य है।

तू भूमि-पतन का अभिवादन मत कर ।

यह वृक्ष अनुदार नही है कि दूसरे के विकास को आवृत कर दे। जव तू पूर्ण विकसित हो जाएगा, तव यह वृक्ष स्वय तुझे स्वतन्त्र कर देगा। माली आएगा। वह अपनी अगुलियो से तुझे प्राप्त कर, माला मे पिरोकर, महान् व्यक्तियो के गले मे तेरा स्थान वना देगा। तव तू अमर हो जाएगा। सुमन ! तू इसी मार्ग को अपना और वृक्ष से लगा रह ।

४ : स्वतन्त्रभारतगीः

, स्वस्य शासनमभूल्लुप्तपरशासने
भारते भारतीयैरभीष्टम् ।
विस्मृता तात्त्विकी प्राणदा संस्कृति,
लब्धुमपि केन चेत प्रकृष्टम् ॥१॥

कोपि नेच्छतितमा शासन स्वात्मनि,
नात्मजयमिन्द्रियाण्यपि यतानि ।
लालसापरवशा स्वार्थसयतदृशो,
नैव पश्यन्ति ऋषिभाषितानि ॥२॥

वाचि गौरवकथा पूर्वजाना गुरु-
रगुरुरास्थापि नो कार्यकाले ।
स्थितिरिदानीन्तनी हन्त ! जटिलाऽखिला,
शान्तिराम्नापि सकल्पजाले ॥३॥

नेतृतारङ्गभूर्दृष्टिमाकर्षति,
चेतनाव्यापि मिथ्यामहत्त्वम् ।
जीवन भोगलिप्साशतव्याकुल,
स्मर्यते कैरहो ! त्यागतत्त्वम् ॥४॥

शुष्कतर्कैरल ताडिता तर्जिता,
लुप्तशीलाह विश्वासवीथि ।
रीतिराचारगा शस्यते न क्वचिद्,
घुणजनव्याहता साधुनीति ॥५॥

हन्त ! मृगतृष्णया मोहित जगदिद,
नापवादस्ततो भारतोऽपि ।
कोऽपि नाध्यात्मिका गुरुरभूदीदृशः,
किं न तत्त्व विलोकेत सोऽपि ॥६॥

सग्रहः स्वल्पको वर्धता सयम ,
प्रोच्चजीवनमनेनैव भूयात् ।
तत्स्वतन्त्रा स्थितिर्भाविनी वस्तुतो,
भद्रमध्यात्मवादस्य भूयात् ॥७॥

भारत मे दूसरो का शासन लुप्त हुआ और भारतीय जनता का अभिप्रेत स्वशासन प्राप्त हुआ। किन्तु विस्मृत, तात्त्विक और सजीवनी तुल्य भारतीय सस्कृति को पुन प्राप्त करने के लिए किसने अपने मन को उत्साहित किया ?

अपने पर अनुशासन और आत्मविजय करना कोई नही चाहता। इन्द्रिया भी सयत नही है। सब मनुष्य लालसा के वशीभूत हैं और सबकी दृष्टि स्वार्थ-परक है। वे ऋषि-वाणी पर ध्यान नही देते।

मनुष्यो की वाणी मे अपने पूर्वजो की महान् गौरव-गाथा है किन्तु कार्यकाल मे उस पर किंचित् भी आस्था नही है। आज की सारी स्थिति जटिल है। सकल्प-जाल मे शाति मान ली गई है।

नेतृत्व की रगभूमि सबको अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। झूठा महत्व व्यक्ति के कण-कण मे व्याप्त है। जीवन भोग की सैकडो लिप्साओ से भरा हुआ है। ऐसी स्थिति मे कौन त्याग को याद करे ?

विश्वास का मार्ग शुष्क तर्कों से ताडित और तर्जित होकर लुप्तशील वाला हो गया है। आचारयुक्त रीति कही भी प्रशसित नही है। श्रेष्ठ नीति घुण जैसे लोगो द्वारा व्याहत हो रही है।

खेद है कि यह समूचा जगत् मृगतृष्णा से मोहित हो रहा है। भारतवर्ष भी इसका अपवाद नही है। 'भारत जैसा आध्यात्मिक गुरु कोई दूसरा देश नही था'—इस तत्त्व को मनुष्य क्यो नही देखता ?

सग्रह कम हो और सयम बढे—इससे ही जीवन उन्नत हो सकता है। तब ही वस्तुत स्वतन्त्रता की स्थिति होगी और अध्यात्मवाद फलेगा-फूलेगा।

५ : विनयपत्रम्

महते यात्रिणे यात,
भावा ! शब्दाश्च सप्रति।
सद्वैद्याय शिवाढ्याय,
तुलसीप्रवराय मे ॥१॥

हे मेरे भावो ! शब्दो ! तुम अभी महान् यात्री, सद्वैद्य और कल्याण की सपदा से सम्पन्न श्रीमद् आचार्य तुलसी के पास जाओ।

यस्योच्चैस्त्व शिखरिशिखर लङ्घयित्वाऽभियाति,
यस्य प्रेम स्पृशति हृदय नावृत मानवानाम्।
यस्याश्वासो दिशति सुदिश त्राणचिन्तारताना,
चेतो ! याहि प्रकृतपुरुष त प्रणन्तु महान्तम् ॥२॥

मन ! तू उन महान् प्रकृत पुरुष श्री तुलसी को प्रणाम करने के लिए जा जिनकी उच्चता पर्वतो के शिखरो को लाघकर अभियान कर रही है, जिनका अनावृत प्रेम मनुष्यो के हृदय का स्पर्श करता है और जिनका आश्वासन रक्षा की चिन्ता मे आतुर प्राणियो को सही दिशा देता है।

दृष्टिप्रेक्षा भवति निकट दूरतो नापि वार्ता,
कायस्पर्श सविधविपयो दूरता दूरतैव।
अग्रे पृष्ठे भवति करण दूरदेशे हि चेतो,
यत्सान्निध्य जनयति निजैर्ज्ञातमज्ञातमन्यै ॥३॥

जो निकट होता है उसे दृष्टि से देखा जा सकता है। जो दूर होता है उससे बात भी नही की जा सकती। निकटता होने से काया का स्पर्श भी हो सकता है। दूरी दूरी ही है। दूर देश मे आगे-पीछे केवल एक चित्त ही साधन होता है जो

अपने निजी व्यक्तियो के साथ निकटता पैदा करता है । यह दूसरे नही जान पाते ।

नोपादान व्रजति मनुजो नाम पश्यन्निमित्त,
शाब्दे लोके व्यवहृतिपरे शब्द एव प्रमाणम् ।
भावालोका प्रकृतिपटवो यात शब्दास्तदर्थम्
देवार्याय ज्ञपयत परा वन्दना नम्रभावाम् ॥४॥

निमित्त कारण को देखता हुआ मनुष्य उपादान कारण को प्राप्त नही होता। इस व्यावहारिक और शाब्दिक लोक मे शब्द ही प्रमाण हैं। इसलिए भावना के आलोक से आलोकित तथा प्रकृति मे पटु शब्दो ! तुम आचार्य तुलसी के पास जाओ और हमारी विनम्र और उत्कृष्ट वन्दना को निवेदित करो ।

यस्य स्वास्थ्ये निहितमतुल स्वास्थ्यमूर्ध्व जनाना,
तस्मै पुण्य ज्ञपयत सुखप्रश्नमिष्ट नितान्तम् ।
शब्दाधीना वयमिह यत साम्प्रत दूरदेशे,
तद् युष्माभि समुचितविधि प्रातिनिध्य विधेयम् ॥५॥

जिनके स्वास्थ्य मे जनता का सम्पूर्ण स्वास्थ्य निहित है, उन पूज्य तुलसी के पास जाकर तुम सदा हमारा सुख-प्रश्न ज्ञापित करो। हम दूर प्रदेश मे स्थित होने के कारण शब्दो के अधीन हैं। इसलिए शब्दो ! तुम हमारा समुचित ढग से प्रतिनिधित्व करो।

सानन्दा स्मो वयमिह तव प्राप्य वाणी प्रशस्ता,
सोल्लासा स्मो वयमिह मन स्वास्थ्यमासेवमाना ।
सोद्योगा स्मो वयमिह तनुस्वास्थ्यमुच्छ्वासयन्त,
सोत्साहा स्मो वयमिह सदा लेखनी सस्पृशन्त ॥६॥

गुरुदेव ! आपकी प्रशस्त वाणी को प्राप्त कर हम यहा आनन्द मे हैं। हम मानसिक स्वास्थ्य को धारण करते हुए उल्लसित हैं । हम शारीरिक स्वास्थ्य को सुधारने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। हम आज लेखनी का स्पर्श कर, आपको कुछ लिखते हुए पूर्ण उत्साहित हो रहे हैं ।

कार्यं किञ्चित्प्रगतिमगमत्तेन तुष्याम एव,
कार्यं किञ्चिन्न कृतमपि तत्पूर्तिमानेतुमुत्का ।

गन्तव्ये स्मो वयमिह गतास्तत्र यास्यन्ति पूज्या,
गन्तव्योऽय विधिरतितरा नास्ति गन्तव्यमन्यत् ॥७॥

कार्य मे कुछ प्रगति हुई है, इसका हमे सतोप है। अभी जो कुछ कार्य शेष है, उसको पूर्ण करने मे हम उत्सुक हैं। जहा हमे पहुचना था, वहा हम पहुच गए हैं और पूज्यश्री भी वही आएगे। यह विधि ही सर्वथा गन्तव्य है। इसके अतिरिक्त कोई गन्तव्य नही है।

कष्टापात प्रथममभवत्पञ्चकर्मप्रथाया,
स्नेहप्राप्ति क्व खलु सुलभा स्वेदन क्वास्ति लभ्यम्।
यत्प्राप्ताना भवति वमन कष्टमामाशयाय,
शुद्ध पक्वाशय इह विना स्यान्नवा रेचनेन ॥८॥

आयुर्वेद चिकित्सा के अनुसार मैंने पञ्चकर्म करवाए। उस प्रणाली मे पहले-पहल बहुत कष्ट हुआ। स्नेह प्राणियो के लिए कहा सुलभ है? स्वेदन भी कहा प्राप्त होता है। इन दोनो के होने पर वमन होता है। वह आमाशय के लिए कष्टदायी होता है। रेचन के विना पक्वाशय शुद्ध नही होता।

उत्तीर्णोऽय जलधिरधुना तीरमस्मि श्रितोऽह,
कल्पारम्भो भवति नवमीवासरे पुण्ययोगे।
सेवाभावो मुनिगणगत कल्पनादुर्लभोऽसौ,
साध्वीयोगात्सुविधिरभवत्तन्निदान सुदृक्ते ॥९॥

मैं इस पञ्चकर्म के समुद्र को पार कर किनारे पर आ पहुचा हू। इस पुण्य नवमी के दिन कल्प का प्रारभ हो रहा है। सहयोगी मुनियो ने जो सेवा की है उसकी कल्पना भी दुर्लभ है। साध्वियो का भी उचित सहयोग रहा। यह सब आपकी सुदृष्टि का ही परिणाम है।

आचार्यश्रीप्रवरतुलसीपुण्यसान्निध्यमाप्ता,
चम्पालालप्रभृतिमुनयो वन्दनीया यथार्हम्।
अत्रत्याना मनसि लपित ते विदन्तु प्रयोग्य,
अत्रत्याना मनसि लपित नेयमस्माभिरिष्टम् ॥१०॥

आचार्यप्रवर श्री तुलसी के निकट रहने वाले मुनि चपालालजी (सेवाभावी) आदि मुनिवृन्द को यथायोग्य वन्दना, सुखपृच्छा। यहा पर स्थित मुनियो के मन मे

विद्यमान वन्दना-सुखपृच्छा की भावना को वहां के मुनिवृन्द यथायोग्य जान लें और हम यहां स्थित मुनि वहां के मुनिगणों की मानसिक भावना को ग्रहण कर लेंगे।

[आचार्यश्री तुलसी को प्रदत्त पत्र—राजनगर (मेवाड) वि० स० २०१७ ज्येष्ठ शुक्ला ६]

६ : मेघाष्टकम्

लीलालोला पयोदाश्चपलगतिकला व्योम्नि नीले नटन्तो,
विद्युल्लेखाविहीना हृतजलधिजला प्रायशो गर्जिशून्या ।
आरूढा गन्धवाह वृतभगणरुचो ज्योतिषा दस्यवो हि,
स्तैन्ये दाने च तुल्यो विधिरिति तिमिर मौनिता गोप्यता च ॥१॥

वम्बई के चपल गति करने मे निपुण चचल मेघ नील-नभ मे नाच रहे हैं। उन्होंने पास वाले समुद्र से पानी चुराया है। इसलिए वे हाथ मे विद्युत् का दीप लिये विना ही अधकार मे चुपचाप चले जा रहे हैं। वे ज्योति के शत्रु वादल पवन पर आरूढ होकर ज्योतिष्चक्र को आवृत कर रहे हैं। क्योकि चोरी और दान की विधि एक-जैसी होती है। दोनो मे अप्रकाश, मौन और गुप्तता—ये तीनो होते हैं।

सतप्ता भूविभागा हुतवहसदृशा यत्र धूलीप्रदेशे,
बिन्दून् बिन्दून प्रतीक्षा विदधति सतृष दह्यमाना भ्रूलाभि ।
तत्राम्भोदावलोको न भवति सुलभो यत्र सिन्धोर्लहर्य-
स्तत्रैते भूरि दृश्या ऋतमिति सकला पूर्णमापूरयन्ति ॥२॥

जिस मरुधर प्रदेश मे सूर्य के आतप से भूमि अग्नि की तरह तप उठती है और वहा के लोग ताप से झुलसते हुए वूद-वूद के लिए सतृष्ण नेत्रो से प्रतीक्षा करते हैं, वहा मेघ का दर्शन भी सुलभ नही होता। किन्तु जहा समुद्र की लहरें उछलती रहती हैं, वहा वादलो का समूह आकाश मे मडराता रहता है। यह सत्य है कि सभी व्यक्ति भरे हुए को ही भरते हैं।

दृष्ट स्पष्ट मरौ ते प्रतनुकपयसा टोपमारोपयन्तो,
वर्षन्ति स्वल्पमम्बु स्तनितविलसितैर्भापयन्त किशोरान् ।

रौद्र रूप सृजन्त कथमपि कुटिल मोहमय्या न दृष्टा,
सारे नाडम्बरो यद् बहिरुपकरण रच्यते स्वल्पसारै ॥३॥

मैंने मरुभूमि मे यह स्पष्ट देखा है कि थोडे पानी वाले बादल बहुत आडम्बर करते हुए आकाश मे उमडते हैं, गर्जन करते हुए बालको को डराते हैं, किन्तु बहुत कम पानी बरसाते हैं। यहा बम्बई मे मैंने उन्हे किसी प्रकार का कुटिल रौद्र रूप धारण करते हुए नही देखा। इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि जो सार-युक्त होता है उसमे कोई आडबर नही होता और जो स्वल्प सारवाला होता है वही बाहरी उपकरणो की रचना करता है, आडम्बर दिखाता है।

सिन्धोरादाय नीर विदधति मधुर क्षारभाव व्युदास्य,
सिञ्चन्तीलामशेषा सुबहुलसलिला आपगा ससृजन्ति।
अज्ञानारम्भ एष प्रकृतिविरचितस्तेन केचिद् रुदन्ति,
वर्षाभावे तदन्ये जलबहुलतया पापमज्ञानमुच्चै ॥४॥

बादल समुद्र से पानी लेकर, उसके खारेपन को मिटाकर मीठा बना देते हैं। वे सारी पृथ्वी को पानी से सींचते हैं और प्रचुर पानी वाली नदिया प्रवाहित हो उठती हैं। वे अनेक गावो को बहा ले जाती हैं। प्रकृति द्वारा विरचित यह अज्ञान का ही फल है। इससे कई लोग वर्षा के अभाव मे तो कई लोग वर्षा की अति से रोते हैं। यह सत्य है—अज्ञान बहुत बडा पाप है।

ग्रीष्मो नीतो निधनमभितो येन तद्राज्यलक्ष्मी-
र्ध्वस्ता चक्रे रसमवनिग शोषयित्वा प्रकामम्।
हा! किं जात सहजसुलभ पापिनोन्तेन पाप-
मन्त नेतु स्फुरति धिषणा शाश्वतो मार्क्सवाद ॥५॥

बादलो ने उस ग्रीष्म ऋतु को नष्ट कर डाला जिसने पृथ्वी के रस का प्रचुर शोषण कर वर्षा की राज्यलक्ष्मी को ध्वस्त किया था। हा! यह क्या सहज सुलभ हो गया है कि मनुष्य की बुद्धि पाप का अन्त करने के लिए पापी का अन्त करने की दिशा मे स्फूर्त होती है। क्या मार्क्सवाद शाश्वत नहीं है?

क्षणेऽध्वान शुष्का स्फुटमपि नभो धूपललित,
क्षणे मेघाच्छन्न तदह खलु ते नीरभरिता!
अये मेघा! नैतद् विदितमपि सर्वोर्ध्वमटता,
न विश्वासश्चाप्यो भवति महता चञ्चलधियाम् ॥६॥

बम्बई में हमने देखा कि क्षणभर के लिए सारे मार्ग सूखे हुए हैं। आकाश स्वच्छ और धूप से ललित है। क्षणभर के बाद देखा कि सारा आकाश मेघ से आच्छन्न है और वे मेघ जल से भरे-पूरे हैं। हे मेघ ! तुम सबसे ऊंचे घूमते हो, फिर भी तुम्हे यह ज्ञात नही है कि चचलवृत्ति वाले, महान् होते हुए भी, जनता का विश्वास नही पा सकते।

आश्रित्यानिलमूर्ध्वगा जलमुचो जानन्ति तत्त्व न तत्,
कुर्वन्तो गग्रनाङ्गणे चपलताकेलि हरन्ते मन।
स्तोकेनैव पलेन भूमिपतन ते यान्त्यतर्क्यं ध्रुव-
मन्यालम्बनतो यदूर्ध्वगमन तन्नास्ति रिक्त भयात्॥७॥

मेघ पवन के आश्रय से बहुत ऊचे चले जाते हैं। वे तत्त्व को नही जानते। वे आकाश मे चपल क्रीडा करते हुए लोगो का मन हर लेते हैं। वे थोडे ही समय मे अतर्कित रूप से भूमि पर गिर जाते हैं, क्योकि दूसरो के सहारे ऊचा चढना खतरे से खाली नही होता।

धान्य येभ्यो नयति कृषिको जीवन सर्वलोक,
शैत्य वातो नवरसमग स्नेहमुर्वी प्रकर्षम्।
जातो नून जलधरसुहृत् केवल यन्मयूर,
गम्य तस्माद् हृदयमितरद् भिन्नमावश्यकत्वम्॥८॥

मेघो से कृषक धान्य पाता है, सारे प्राणी जीवन पाते हैं, पवन ठडक तथा वृक्ष नया रस प्राप्त करते हैं और भूमि प्रचुर स्निग्धता पाती है। किन्तु इतना होने पर भी जलधर का सुहृद् केवल मयूर ही बना है। इससे यह सत्य अभिव्यक्त होता है कि हृदय भिन्न होता है और आवश्यकता भिन्न।

(वि० स० २०११ चातुर्मास बम्बई)

७ : समुद्राष्टकम्

जलकणैर्विहितो जलधिर्महान्,
विपुलता फलिता ललिता तत ।
पुलिनविन्दुमुपेक्ष्य स गच्छति,
किमिति हा ! महिमा महतामसौ ।।१।।

पानी की बूंदो ने समुद्र को महान् बनाया और उन्ही के कारण उसकी विपुलता फलित हुई । किन्तु समुद्र बूंदो की उपेक्षा कर चला जा रहा है ।[१] क्या महान् व्यक्तियो की यही महत्ता है ?

जलनिधे ! सरितामपकर्षण,
सृजसि तेन महानिति गीयसे ।
वत ! निरर्थकसग्रहपद्धति-
रुपनतास्ति तया जगती दुता ।।२।।

समुद्र ! तुम नदियो का अपकर्षण कर महान् बने हो । खेद है कि निरर्थक सग्रह की पद्धति चल रही है, इसीलिए विश्व पीडित हो रहा है ।

वहुलता न भवेन् मधुरा क्वचि-
ज्जलधिरेष विभाति निदर्शनम् ।
मधुरिमा सृजति ध्रुवमल्पता,
जलद एष विभाति निदर्शनम् ।।३।।

---

१ जव समुद्र की लहरें तट से टकराती हैं, तव कुछ वूंदें इधर-उधर विखर जाती हैं। कवि कहता है कि वह समुद्र इन वूंदो की परवाह किए विना ही चला जाता है ।

अधिकता कही भी मधुर नही होती, इसका स्पष्ट उदाहरण है समुद्र और अल्पता मधुरता का सृजन करती है, इसका उदाहरण है बादल ।

जलनिधिर्वसुधामुपसर्पति,
सुरपथ लहरी परिचुम्बति ।
न खलु वेत्ति कृशानुभवा हि सा,
न तु नुताऽपि च शून्यगतोच्चता ॥४॥

समुद्र भूमि पर उपसर्पण करता है और तरग आकाश को छूने लगती है । उसका अनुभव थोडा है । वह नही जानती कि दूसरे द्वारा प्रेरित किए जाने पर भी शून्य को उच्चता प्राप्त नही होती ।

नयसि नयति निम्न यद् गुरु त्व तुलापि,
प्रकटमहहदोषोऽय द्वयोर्निर्विशेष ।
तदिह न तुलितो नो तोयबाहुल्ययोगात्,
सदृशचरितयुग्मे क कथ तोलयेत् कम् ॥५॥

समुद्र ! जिस प्रकार तुम भारी वस्तु को नीचे ले जाते हो उसी प्रकार तुला भी भारी वस्तु को नीचे ले जाती है । दोनो मे यह दोष स्पष्ट और समान है । इसीलिए तुम अभी तक तुलित नही हुए हो । तुम विशाल जलराशि हो इसलिए नही तुले, ऐसा नही है किन्तु जहा दोनो सदृश चरित्र वाले हो, वहा कौन किसे तोले ?

भवति च नववेला मूर्तसघर्षवेला,
तदिह जलधिवेला काल एव प्रमाणम् ।
अमितसलिलराशिर्नैकधा याति याति,
दृषदि दृषदि रुद्धो दुर्लभो हि विकास ॥६॥

यह स्पष्ट है कि नई वेला सघर्ष की वेला होती है । इसका प्रमाण है ज्वार-भाटे का समय । उस समय अमित जलराशि अनेक बार तट पर आ टकराती है और चली जाती है । उसका गमन और आगमन चट्टानो से अवरुद्ध होता है । यह सच है कि विकास अत्यन्त दुर्लभ होता है ।

कथय कथय विद्या क्वाम्बुधे ! सावधीता,
चपलपवनलोलोऽपि स्थिर्ति लघसे न ।

न खलु न खलु विद्यामदिरे मानवाना,
मिलति कठिनकाले स्वव्रताभ्यासशिक्षा ।।७।।

समुद्र ! तुम चपल पवन के द्वारा चचल होने पर भी अपनी मर्यादा को नही छोडते। तुम मुझे यह वताओ कि तुमने यह विद्या कहा से सीखी ! आज के विद्यालयो मे मनुष्यो को आपत्तिकाल मे भी अपने व्रतो मे दृढ रहने की शिक्षा कहा मिलती है ?

सलिलमपि सुधा स्याद् मन्थनेनेति तत्त्व-
ममृतमपि विप स्याद् रूढवृत्त्येति तथ्यम् ।
उदधिरपि समन्थोऽसूत रत्नानि सूक्ति,
विगलितपरिवर्त क्षारतामेप याति ।।८।।

मन्थन से पानी भी अमृत वन जाता है और रूढ—अवरूद्ध होने से अमृत भी विप हो जाता है—ये दोनो तथ्य है। समुद्र का मन्थन किए जाने पर उसने रत्न दिए। किन्तु जव मन्थन रुक गया, उसमे परिवर्तन होना वन्द हो गया, तव वह पडा-पडा खारा वन गया।

(वि० स० २०११ चातुर्मास वम्बई)

८ : दुर्जनचेष्टितम्

कोपारुणमिव रक्त,
भूत्वा त्वामीक्षतेऽह यत्पद्मम् ।
तदपि हि तेन प्रीतिं,
कुरुषे भानो ! ऽत्र वैचित्र्यम् ॥१॥

हे सूर्य ! यह कमल तुम्हे क्रोधारुण होकर देख रहा है, फिर भी तुम उससे प्रेम करते हो, यह वैचित्र्य है।

अम्बुज ! किं पश्यसि नो,
दुराचरित त्वममुष्य गगनमणे ।
त्वया सृजन्नपि मैत्री,
त्वदुत्पत्तिहेतु शोषयति ॥२॥

कमल ! तुम क्या इस सूर्य के दुराचरण को नही देखते ? वह एक ओर तुम्हारे साथ मैत्री करता है और दूसरी ओर तुम्हारी उत्पत्ति के मूल कारण—कीचड को सुखाता है।

मा विश्वसिहि मधुकृन् !
मदर्थमिन्दीवर प्रफुल्लमिति ।
एतत्सवितुर्दर्शन-
लालसमेव स्फुटीभवति ॥३॥

भ्रमर ! तुम कभी यह विश्वास मत करना कि यह कमल मेरे लिए खिला है। सच तो यह है कि यह कमल सूर्य के दर्शन करने की लालसा से खिला है, तुम्हारे लिए नही।

कस्यचिदेव वचन-
श्रवणात् तरणिर्जगाम सहसाऽस्तम् ।
सकुचित नलिनेन,
गतमन्यत्र द्विरेफेण ॥४॥

किमी दुर्जन व्यक्ति के ये वचन सुनकर मूर्य अम्त हो गया, कमल मिकुड गया और भ्रमर अन्यत्र चला गया। (यह देख दुर्जन व्यक्ति अत्यन्त प्रमन्न हुआ।)

विरह मोढुमनीश,
इव रविरुदित प्रकाशते कमलम् ।
भृङ्गो गुञ्जारवति,
निष्फलम्तन्मनोरथतरु ॥५। ।

विरह को महने मे असमर्थ होता हुआ मूर्य पुन उदित हुआ, कमल खिल उठा और भौंरा गुजारव करने लगा। यह देख उम दुर्जन व्यक्ति का मनोरथ निष्फल हो गया।

(वि० म० १९९८ चापामनी)

६ : पितृप्रेम

नीर मत्तो नीत,
नाश्रयोऽपि वर्तते तव क्वापि।
आकृत्याऽपि श्यामो,
गर्जसि कस्मान् मुधा मेघ! ॥१॥

समुद्र ने कहा—'मेघ! तुमने पानी मेरे से लिया है। तुम्हारा कही भी आश्रय नही है। तुम आकृति से भी काले हो, फिर भी तुम व्यर्थ ही क्यो गरजते हो?

क्षार मधुर कृत्वा,
तव वारि तेनैव सतोष्य जनान्।
पुनरपि ते वितरामि,
तस्माद् गर्जाम्यह न मुधा ॥२॥

मेघ ने कहा—'समुद्र! तुम्हारे खारे पानी को मीठा बनाकर लोगो को देता हू और उससे वे सतुष्ट होते हैं। वही पानी तुम्हे (नदी-नाले के माध्यम से) पुन वितरित कर देता हू। इसीलिए मैं गर्जन करता हू। मैं व्यर्थ ही नही गर्जता।

पुत्रस्तव सकलक-
स्तनुजा चपला च तत्पति कृष्ण।
क्षारमय सकलोऽसि,
गर्जसि कस्मान् मुधा सिन्धो! ॥३॥

मेघ ने कहा—'समुद्र! तुम्हारा पुत्र चन्द्रमा सकलक है, पुत्री (लक्ष्मी) चपल है और उसका पति कृष्ण है—काला है। तुम सर्वात्मना क्षारमय हो। इतना होने पर भी तुम व्यर्थ ही क्यो गर्जन करते हो?

जगदानदविधायी,
परोपकाराय जगति चतुरतर ।
तव तुल्यो मम तनुज,
तस्माद् गर्जाम्यहं न मुधा ॥४॥

समुद्र ने कहा—'मेघ ! जगत् को आनन्दित करने वाले, परोपकार करने मे अत्यन्त पटु तुम भी तो मेरे ही पुत्र हो। इसीलिए मैं गर्जन करता हू। मेरा गर्जना व्यर्थ नही है।

(वि० स० १९९८ माघ—मेलूसर)

१० : निकषरेखा

दीप

दीप ! प्रकाशयसि रे परवस्तुजात,
द्रष्टु स्वरूपमपि यद् मुकुरे यतस्व ।
स्नेहापशोषणतया त्वयि भास्वरेऽपि,
य कालिमा न हि कलङ्कपद किमत्र ॥१॥

दीप ! तुम दूसरी वस्तुओ को प्रकाशित करते हो । तुम अपना स्वरूप काच में देखने का यत्न करो । तुम स्वय चमकीले हो, किन्तु स्नेह (तैल) का शोषण करने के कारण तुम्हारे मे कालिमा आ गई है । क्या यह तुम्हारे लिए कलक नही है ?

आलोकवानसि वर गृहरत्न ! किन्तु,
कीर्त्ति न गातुमभिमानिवरोऽहमिच्छु ।
कान्ताकरागुलिविकम्पनमध्यवासि,
त्वज्जीवन च मरण किमिद तवार्हम् ॥२॥

हे प्रदीप ! तुम प्रकाशवान् हो, किन्तु स्वाभिमानी मैं तुम्हारी कीर्ति का गान नही करना चाहता । क्योकि तुम्हारा जीवन और मरण स्त्री की अगुलि के कपन पर टिका हुआ है । क्या यह तुम्हारे योग्य है ?

तैल पूर्णं वर्त्तिरुच्चै कृतास्या,
सूक्ष्मो वात. पावक पावनात्मा ।
चित्र चित्र नो तथापि प्रदीपो,
वृत्रस्तोम भूमिसाद् यत्तनोति ॥३॥

दीपक मे तैल भी है और ऊचा मुह किए खडी वाती भी है । मन्द पवन चल

रहा है। पवित्र ज्योति जल रही है। यह आश्चर्य है कि फिर भी दीपक अधकार को नष्ट नही कर रहा है।

सूर्य

सातङ्क कुरुपेऽथ भूगृहमहो रे कोऽसि ? भास्वानह,
छिद्रान्वेषक ! किं तवास्त्यविषय पृष्ठ न मे मुञ्चसि।
दोष पश्यसि नात्मन कथमरे ! पश्यन्न वा पश्यसि,
विघ्नस्त्व मम साम्यकर्मणि हहा ! धिक् पापिना चेष्टितम् ॥४॥

सूर्य ने अधकार से कहा—'अरे ! तुम इस भोहरे को आतकित करते हो ?' अधकार ने पूछा—'तुम कौन हो ?' सूर्य ने कहा—'मैं सूर्य हू।' अन्धकार बोला—'छिद्रान्वेषक ! ऐसा कोई विषय है, जिसे तुम नही छूते ? तुम मेरा पीछा क्यो नही छोडते ?' सूर्य ने कहा—'अरे ! तुम अपना दोष नही देखते या देखते हुए भी नही देखते।' अन्धकार ने कहा—'मेरे अस्तित्व मे समता का साम्राज्य रहता है—कोई ऊचा-नीचा, काला-गोरा नही दीखता। सूर्य ! तुम मेरे इस समता-कार्य के विघ्न हो।' धिक्कार है दुष्ट व्यक्तियो की चेष्टाओ को !

ग्रीष्मे भानोररुणकिरणै शुष्यमाणे हि पके,
सम्यग्बुद्ध विकलनिनदैर्भास्वता कर्मकाण्डम्।
क्षुद्रोद्धारे श्रयति सलिल स्वात्मना गर्तवास,
तेनैवाद्य प्रकृतिमुखरैर्दर्दुरैर्गीयमानम् ॥५॥

ग्रीष्म ऋतु मे सूर्य तेज किरणो से तप रहा था। उसके ताप से कीचड सूखने लगा। तब उस कीचड मे बसने वाले मेढको ने व्याकुल शब्दो मे कहा—'हमने प्रकाशवान् व्यक्तियो के कर्मकाण्ड को देख लिया है। वे दूसरो को कष्ट देने मे रस लेते हैं।' इतने मे उन क्षुद्र जीवो का उद्धार करने की कामना से पानी ने अपने आपको नीचे गढे मे गिराया और तब मेढक हर्षित हो उठे। इसीलिए आज भी वर्षाऋतु मे प्रकृति से वाचाल मेढक पानी का यशोगान गाते रहते हैं।

सूर्याच्छादयसि ग्रहाननुकृतिर्दीपस्य वा प्राकृत,
मन्ये कश्चन नास्ति ते प्रियसुहृद् यस्त्वा हिते योजयेत्।
जातिद्वेषपरम्परा विकसिता नीचेन तत्कर्मणा,
दृश्यन्ते तिमिरेऽपि दृश्यतनुभिस्तेजासि ते तारकैः ॥६॥

सूर्य ! तुम सब दूसरे ग्रहो को आच्छादित कर देते हो। यह दीप का अनुकरण है या तुम्हारा स्वभाव ? मैं मानता हू कि तुम्हारा कोई मित्र नही है जो कि तुम्हे हितकारी कार्य मे योजित कर सके। तुम्हारी इस नीच क्रिया से जाति-द्वेष की परम्परा विकसित हुई है। इसी वात से ये अधकार मे दीखने वाले तारे तुम्हारे तेज की हसी उडा रहे हैं।

तटस्थ

आलोक स्वस्य पूषा प्रथयति पृथुल वासरे भास्वरात्मा,
रात्रौ गाढान्धकार प्रसृमरकरण गाहते भूमिमेताम्।
नालोको नान्धकारो भवति च समय सन्धिवेलैव तादृग्,
दोपैर्मुक्ता यदि स्युर्न खलु गुणगणैश्चापि के ते तटस्था ॥७॥

सूर्य प्रकाशी है। वह दिन मे विपुल प्रकाश को फैलाता है। रात्रि मे सघन और व्यापक तमोमय शरीरवाला अन्धकार सारी पृथ्वी पर फैल जाता है। सध्या-काल ही एक ऐसा समय है, जिसमे न अधकार होता है और न प्रकाश। ऐसे कौन तटस्थ व्यक्ति हैं जो दोप-मुक्त हो और साथ-साथ गुण से भी शून्य न हो ?

लक्ष्मी

स्वकीया परकीया स्यु,
परकीया अपि स्वका।
विरहेऽविरहे पद्मे!,
तव केय विचित्रता ॥८॥

लक्ष्मी ! तुम्हारे अभाव मे 'अपने' 'पराए' हो जाते हैं, और तुम्हारे भाव मे 'पराए' भी 'अपने' हो जाते हैं। यह तुम्हारी कैसी विचित्रता !

पद्मे ! कृथा मेति वृथाभिमान,
मत्स्पर्शतो ही मनुजा मदान्धा।
यत्राऽविवेकस्य भवेन्नसङ्गो,
न तत्र शक्ति सफला तवैका ॥९॥

लक्ष्मी ! तुम यह झूठा अभिमान मत करो कि तुम्हारे स्पर्श से मनुष्य

मदान्ध हो जाते हैं। जहा अविवेक नही होता वहा तुम्हारी एक भी शक्ति सफल नही होती।

क्षीरोदतनये ! त्वयि,
कटुताऽस्ति न वेति वेत्ति तव रसिक.।
व्यक्त पश्याम्यस्मिन्,
नो जाने तेऽस्य वा दोष ॥१०॥

लक्ष्मी ! तुम्हारे मे कटुता है या नही, यह तुम्हारा-रसिक व्यक्ति ही जान सकता है। मैं स्पष्ट देखता हू कि तुम्हारे रसिक मे कटुता होती है। मुझे नही पता कि यह दोष तुम्हारा है या उसका ?

लाघवम्

लघु यदुच्चैर्नयसे गुरुञ्च,
नीचैस्तुले ! ऽय तव दोष उक्त ।
लघुत्वमुच्चैर्गमनस्य हेतु,
किन्नेति शिक्षेत जनस्ततोऽपि ॥११॥

हे तुले ! तुम लघु (हल्की) वस्तु को ऊपर और गुरु (भारी) वस्तु को नीचे ले जाती हो, यह तुम्हारा दोष है।

तुला ने कहा—अरे ! मेरे इस कार्य से क्या जनता इतना भी नही सीख सकती कि लघुता (हल्कापन) ऊपर जाने का हेतु है ?

विवेक

पयोधरस्य सततिस्तता सरोवरादिकै-
र्हठात् स्वमध्यगापि यन्निरर्थक बहिष्कृता।
प्रयोजन विनाप्यहो धृताम्बुराशिना स्वय,
पर. परः स्वक स्वकः प्रतीयते ततो जनै ॥१२॥

मेघ ने विपुल धाराओ से पानी बरसाया। सरोवर ने उस पानी को लिया किन्तु जो निरर्थक था उसे बाहर ढकेल दिया। समुद्र ने यह देखा। उसने बिना

प्रयोजन के ही उस पानी को अपने मे समा लिया। यह सच है—आखिर अपना अपना होता है और पराया पराया।

माधुर्यम्

जीवनहरण स्तनित,
वर्षणमात्मनीत्यादि घनकार्यम् ।
सर्व सहते सिन्धु-
र्मधुरीकरणगुणमैक्ष्यैकम् ॥१३॥

मेघ का कार्य है—समुद्र से पानी चुराना, गर्जना और वर्षा करना। समुद्र यह सब इसलिए सहता है कि मेघ मे खारे पानी को मीठा बनाने का एक महान् गुण है।

कवि-दार्शनिकसंगमः

आनन्दस्तव रोदनेऽपि सुकवे ! मे नास्ति तद्व्याकृतौ,
दृष्टिर्दार्शनिकस्य सप्रवदतो जाता समस्यामयी।
किं सत्य त्विति चिन्तया हृतमते क्वानन्दवार्ता तव,
तत् सत्य मम यत्र नन्दति मनो नैका हि भूरावयो. ॥१४॥

एक दार्शनिक ने कवि से कहा—'कविशेखर ! तुम्हारे रोने मे भी आनन्द है और आनन्द की व्यवस्था करने मे भी मुझे आनद नही आता। मैं जैसे-जैसे आनद को समझने और उसकी व्याख्या करने का प्रयास करता हू, वैसे ही मेरी दृष्टि समस्याओ से भर जाती है।'

कवि ने कहा—'दार्शनिक ! तुम इस बात मे उलझ जाते हो कि सत्य क्या है ? तुम्हारी बुद्धि उसी मे लग जाती है। तुम्हारे लिए आनन्द की बात ही कहा ? किन्तु मेरा अपना सूत्र यह है कि जिसमे मन आनन्दित हो जाए, वही सत्य है। इससे मेरे लिए सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। दार्शनिक ! तुम्हारी और मेरी भूमिका एक नही है।'

महतां कष्टम्

लम्बन्ते तारकास्ते विशदरचितय शून्यतायामिदानी,
भ्राम्यन्त्यद्यापि नित्य विकलवसतयो भास्करख्यातिधुर्या ।
ते के सन्तो जगत्या परहितनिरता ये न जीवन्ति कष्ट,
सौख्य दुष्टान् वृणोति प्रकृति कलुषितान् यत्तम शातिसर्गम् ।।१५।।

ये प्रकाशशील तारे शून्य आकाश मे लटक रहे हैं। अन्यान्य प्रकाशशील ग्रह भी आज तक इधर-उधर घूमते रहे हैं। जगत् मे ऐसे कौन व्यक्ति है जो परोपकार करते हुए कष्ट का जीवन नही जीते? सुख प्रकृति से कलुपित दुष्ट व्यक्तियो का वरण करता है। अन्धकार शाति का सृजन करता है।

जाड्यम्

द्वारि द्वारि प्राप्त आलोक एष,
स्नाय स्नाय सूर्यरश्मिप्रताने।
कुड्ये किञ्चिन्नावकाश लभेत,
प्रायो जाड्य ह्यन्धकारानुयायि ।।१६।।

सूर्य के रश्मि-समूह मे नहाकर द्वार-द्वार पर यह आलोक आया है। यह भीतो मे प्रवेश नही पा रहा है, क्योकि जड (अवरोध पैदा करने वाले) प्राय- अन्धकार का अनुगमन करते हैं।

कियान् प्रभेदः ?

अनन्तलीला प्रथमे क्षणे तु,
छर्दौ गृहाणा स्थितिरुत्तरस्मिन्।
दिने च रात्रौ च कियान् प्रभेद,
इद कपोता हि विदन्ति नान्ये ।।१७।।

कबूतर दिन मे तो अनन्त आकाश मे उडते हैं और रात मे घर के छज्जो पर आ बैठते हैं। दिन और रात मे कितना अन्तर होता है—यह वे ही जान सकते हैं, दूसरे नही।

प्रकीर्णम्

न दृष्टोऽध्वा ध्वान्ते वपुरिदमपि स्थूलमतुल,
तुपारस्पर्शेनावयवजडभाव गतवती ।
प्रमीला निद्राणे सति जगति लब्धाभयपदा,
निशा मन्द मन्द व्रजति यदि पौषे किमधिकम् ? ॥१८॥

पौप के महीने मे रात धीरे-धीरे चलती (बीतती) है तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ? वह सघन अधकार मे अपना माग नही देख पाती और उसका शरीर भी स्थूल होता है (राते बहुत बडी होती हैं)। शीत के स्पर्श से उसके सारे अवयव जड हो जाते हैं। सारे लोग नीद मे सोए रहते हैं और तब वह रात बिना किसी भय के धीरे-धीरे चलती है।

रे रे खर ! तूष्णी भव,
दृष्ट तवककौशलम् ।
दुर्लभा वाग्मिता चेत्ते,
कर्णौ किं सुलभौ नृणाम् ॥१९॥

एक बार गधा सामने से रेंकता हुआ आया। तब कवि ने कहा—गधे ! मौन हो जा। मैंने तेरे बोलने का कौशल देख लिया। यदि तेरी यह वाचालता दुर्लभ है तो क्या मनुष्यो के कान सुलभ हैं ?

अन्धोऽसि तेन जगता न विगर्हणीय-
स्तेनैव विश्वभुवनेऽसि यदन्धकार ! ।
दोपोऽपि नापरजनान् परिपीडयन् ही,
कारुण्यभाजनमल सुजनाशयेपु ॥२०॥

हे अन्धकार ! तुम अन्धे हो इसीलिए सारे ससार मे गर्हणीय नही हो। जो दोप दूसरो को पीडित नही करता, वह सुजन व्यक्तियो के लिए करुणा का पात्र होता है।

निन्दामर्हति सोऽर्थवादलुभित श्लाघा न त लिप्सते,
श्लाघ्यस्तत्र विरक्तिमानऽह कियत् कष्टा सतीना गति ।
निन्दा दुर्जनकामिता स्वविपया त्रीप्सेद् मुदा सज्जनो,
दुष्टाना खलु जीवित सुमहतामेकाङ्घ्रिपक्षे स्थिरम् ॥२१॥

जो प्रशसा का लोभी है वह निन्दा के योग्य है। श्लाघा उसके पास जाना नही चाहती। और जो प्रशसा का लोभी नही है, वह श्लाघा के योग्य है। पर वह श्लाघा को नही चाहता। आश्चर्य है, सतियो (यहा श्लाघा सती के रूप मे कल्पित है) की गति कितनी कष्टप्रद होती है!

सज्जन मनुष्य दुर्जन के द्वारा कामित स्वविपयक निन्दा को खुशी से जानना चाहता है, क्योकि दुष्ट व्यक्तियो का जीवन महान् पुरुषो के एकागी पक्ष पर ही स्थिर रहता है।

गौरव तु गुरोर्भावो,
लाघव च निजात्मन ।
परवस्तुनि क कुर्याद्,
ममत्व मतिमान् पुमान् ॥२२॥

गौरव गुरु का भाव है। लघुता अपनी निजी वस्तु है। कौन मतिमान् मनुष्य पर-वस्तु मे ममत्व करेगा?

अस्तगते सवितरि प्रतिभाति चन्द्र-
श्चन्द्रेऽस्तमाव्रजति भाति सहस्रभानु ।
चित्र किमत्र जगत खलु रीतिरेपा,
कश्चिन्नयत्युदयमस्तमियर्ति कश्चित् ॥२३॥

सूर्य के अस्त होने पर चन्द्रमा उदित होता है और चन्द्रमा के अस्त होने पर सूर्य उदित होता है। इसमे कोई आश्चर्य नही है, क्योकि ससार की यह रीति है कि कोई उदित होता है और कोई अस्त।

वीरोस्म्यह विश्वजयीति वन्धो!,
मुधाऽभिमान कुरु मा स्वचित्ते।
जेतु न शक्य कुसुमायुधोपि,
त्वया त्वनङ्गोपि धनेषुणापि ॥२४॥

हे वधो! तुम अपने चित्त मे यह व्यर्थ अभिमान मत करो कि मैं वीर हू, विश्वविजेता हू। देखो, तुम अपने वाणो से उस अनग (विना शरीर वाले) तथा फूलो का आयुध रखने वाले कामदेव को भी नही जीत सके हो।

नाय चिन्त्य शुक्तिगो वारिबिन्दु,
काल लब्ध्वा मौक्तिक भावि रम्यम्।
दृष्ट्याऽनक्ष्ये विन्दमानें सदाभा,
नाशाशाखी छिन्नमूलोऽवगम्य ॥२५॥

सीप मे गिरा हुआ पानी का बिन्दु समय के परिपाक से सुन्दर मोती बन जाता है, यह कोई अनहोनी बात नही है। आभा का अस्तित्व दृष्टि से लक्षित भले न हो, किन्तु उसमे आशा का वृक्ष छिन्नमूल नही होता। वह कभी न कभी फल जाता है।

विचारशक्तिर्न च वाचि जाता,
विचारणा नापि च जल्पनार्हा।
न प्रातिनिध्य किल चेतनस्य,
जडो विदध्यान् नियम कृतोऽयम् ॥२६॥

वाणी मे विचारशक्ति नही होती और विचार बोलने मे समर्थ नही होता। यह अटल नियम है कि जड चेतन का प्रतिनिधित्व नही कर सकता।

स्वतन्त्रताया न करप्रमार,
परस्य सह्यो वपुषेत्यघोपि।
तेनैव मन्ये मननेऽभिधाने,
तथा क्रियाया न हि साम्यमस्ति ॥२७॥

अपनी स्वतन्त्रता में दूसरो का हस्तक्षेप सह्य नही होता—शरीर ने यह घोपणा की। इसीलिए मैं मानता हू कि मन, वाणी और क्रिया मे कोई साम्य नही है।

चेतोग्राह्य कथमपि न वागोशतामेति वक्तु,
वाचा वाच्ये भवति मनस सर्वथा स्वीकृतिर्न।
नान्य कश्चित् प्रतिनिधिरपि प्राशुभावोऽनयोश्च,
गम्य भाव व्रजसि सुधिया तत्सखे! याहि रम्यम् ॥२८॥

चित्त के द्वारा ग्राह्य विपय को कहने मे वाणी असमर्थ है और जो वाणी के द्वारा वाच्य है वह सव मन के द्वारा स्वीकृत नही होता। इन दोनो का कोई उच्चचेता प्रतिनिधि भी नही है। हे सखे! तू बुद्धि के द्वारा जिस गम्य-भाव को

प्राप्त होता है, उस ओर जा। यही तेरे लिए अच्छा है।

जानामि सोऽय पुरुषो मनीषी,
मन्ये न वात्माभ्यधिक तथापि।
पूर्वस्य हेतुस्तदभिज्ञता च,
परस्य हेतुश्च ममाभिमान ॥२९॥

मैं जानता हू कि वह व्यक्ति मनीषी है, फिर भी मैं उसे अपने आपसे अधिक नही समझता। उसको मनीषी मानने का हेतु है उसकी विद्वत्ता और उसे मुझसे अधिक मनीषी न मानने का हेतु है मेरा अपना अभिमान।

त्वामन्वेषयितु गतो वहिरह त्व नागमो दृश्यता-
मन्त स्थोऽभवमाशु मामुपगत प्राप्तश्चिर विस्मयम्।
स्थूलोऽह त्वमभूर्लघुर्लघुरह त्व स्थूलतामाश्रितो,
देवेत्थ शिशुना शिशुत्वमुपयन् स्वस्थाविर नावसि ॥३०॥

देव! मैं तुम्हें ढूढने के लिए बाहर गया, किन्तु तुम वहा नही मिले। मैं अन्दर आया और तुम मुझे शीघ्र ही प्राप्त हो गए। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। मैं स्थूल हुआ तो तुम सूक्ष्म हो गए और जब मैं सूक्ष्म हुआ तो तुम स्थूल हो गए। देव! तुम बच्चे के साथ इस प्रकार बचपन करते हुए अपने स्थविरत्व की रक्षा कर सकोगे?

गुरुत्वमन्त करणे प्रविष्ट,
लघुत्वमापादयते जनानाम्।
लघुत्वमन्त करणे प्रविष्ट,
गुरुत्वमापादयते जनेषु ॥३१॥

प्राणियो के अन्त करण मे गुरुत्व (बडप्पन) आते ही वह उन्हे लघु बना देता है और अन्त करण मे लघुत्व आते ही वह उन्हे गुरु बना देता है।

प्राप्तो नो परमेश्वर. कथमिद लब्धो न मार्गो मया,
लब्ध किन्न गुरुर्न लब्ध उचित मार्गं दिशेद् य शुभम्।
लब्ध किन्न मयैषणा नहि कृता किं नो कृता भावना,
नोत्पन्ना न कथ न चोत्तमजनै. सपर्कमायातवान् ॥३२॥

'मुझे परमेश्वर नहीं मिला।'

'क्यों, यह कैसे?'

'क्योंकि मुझे मार्ग प्राप्त नहीं हुआ।'

'मार्ग क्यों नहीं मिला?'

'ऐसा गुरु नहीं मिला जो मुझे कल्याणकारी मार्ग दिखा सके।'

'गुरु क्यों नहीं मिला?'

'मैंने उसकी खोज ही नहीं की।'

'क्यों?'

'मेरे में ऐसी भावना ही उत्पन्न नहीं हुई।'

'भावना उत्पन्न क्यों नहीं हुई?'

'क्योंकि मैं कभी उत्तम व्यक्तियों के सम्पर्क में आया ही नहीं।'

११ : विश्वासात्मा

देहासक्तिर्वत ! बलवती क्षीणमङ्ग चकार,
रुष्टो राजा सचिवमनुयन् गुप्तचेत प्रकाशम् ।
वाच्ये लज्जा भवति च भय गोपने राजरोप,
कार्याकार्ये तमिह परितो निन्यतुर्दिग्विमोहम् ॥१॥

(मन्त्री रानी के प्रति आसक्त हो गया) रानी के प्रति बढी हुई आसक्ति से सचिव का शरीर क्षीण होने लगा। राजा ने उसके मन की वात जाननी चाही। किन्तु सचिव ने रहस्य का उद्घाटन नही किया। राजा कुपित हो गया। सचिव को अपना रहस्य वताने मे लज्जा और उसका गोपन करने मे राजरोप का भय था। कार्य और अकार्य के द्वन्द्व ने उसे चारो ओर से दिग्मूढ वना दिया।

सन्देहाना सरसि सहसा भिद्यमानेन्तरात्मा,
दृश्य स्पृश्यो भवति सचिवश्चापि राज्ञस्तथाभूत् ।
विश्वासोऽपि श्वसिति सुतरा प्राप्य विश्वासमुच्चै,
श्वास श्वास विसृजति न वा श्वासरोधो हि हन्ति ॥२॥

सन्देहो का तालाब टूटने पर अन्तरात्मा दीखने लगती है और उसका स्पर्श होने लगता है। सचिव ने अपना हृदय खोला और राजा ने सब कुछ जान लिया। दृढ विश्वास को पाकर ही विश्वास श्वास लेता है। श्वास ही श्वास को छोडता है। श्वास का निरोध प्राणो को ले लेता है।

तुच्छत्व नो किल विलयते तुच्छताया कदाचित्,
तन् माहात्म्ये व्रजति विलय रीतिरेषा प्रसिद्धा।
राज्ञश्चेत सुरसरिति सा मन्त्रिणस्तुच्छताया,
धारा लीनाऽभवदुदयन प्राप तस्मिन् महत्वम् ॥३॥

तुच्छता तुच्छता में कभी विलीन नहीं होती। वह महानता में ही विलीन हो पाती है। यह विश्रुत विधि है। सचिव की तुच्छता की धारा राजा की मानस-गंगा में लीन हो गई और तब महत्त्व का उदय हुआ।

विश्वासस्य क्षिपति सचिवे कण्ठपीठे कुठार,
विश्वासात्माऽकृत नरपतिस्तस्य हस्तावरोधम्।
क्रूर द्वन्द्व भवति रभसा मृत्युना जीवनस्य,
कश्चित् कश्चित् क्षण इह भवेत्तादृश कालचक्रे ॥४॥

विश्वास की पीठ में छुरा भोंकने वाले सचिव का हाथ विश्वासात्मा राजा ने थाम लिया। इस कालचक्र में कभी-कभी ऐसा क्षण आता है जब जीवन का मृत्यु के साथ क्रूर द्वन्द्व होने लगता है।

(रानी राजा के आदेश से सचिव के प्रासाद में उपस्थित हुई। सचिव का मन ग्लानि से भर गया। उसने कुठार से आत्महत्या का प्रयास किया। गुप्त-द्वार से झांकते हुए राजा ने सोचा—यह कुठार सचिव की नहीं किन्तु विश्वास की हत्या करेगा। राजा ने सचिव का हाथ पकड़ लिया।)

(वि० सं० २०२० आश्विन, लाडनूं)

१२ : पद्मपञ्चदशकम्

ये परमाणुभिरुत्पन्नस्त्व
मृदुलसरोरुह ! तेऽन्यत्रापि ।
प्राप्यन्ते वा न हि प्राप्यन्त,
इत्यवगन्तु मे प्रबलेच्छा ॥१॥

कमल ! तुम अत्यन्त मृदु हो । जिन परमाणुओ से तुम्हारा निर्माण हुआ है, वे अन्यत्र प्राप्य हैं या नही, यह जानने के लिए मैं अत्यन्त उत्सुक हू ।

किन्त्वनुमाम्यणवस्तवकाय-
सदृशा नो नीयन्तेऽन्यत्र ।
किञ्च गुणास्त्वयि सर्वविशिष्टा,
उपलभ्यन्तेऽनुपमा अन्यैः ॥२॥

किन्तु मेरा यह अनुमान है कि वैसे परमाणु अन्यत्र प्राप्य नही हैं । क्योकि तुम्हारे मे जो गुण हैं, वे दूसरो से विशिष्ट और अनुपम है ।

पङ्केप्युत्पत्ति सप्राप्य,
कालुष्य नाद्रियसे यत्त्वम् ।
तत्तव वैचित्र्य कियदास्ते,
सौवेऽप्यवगुणभाजि न पक्ष ॥३॥

कमल ! तुम कीचड मे उत्पन्न होकर भी उसकी कलुषता से स्पृष्ट नही होते, यह तुम्हारी कितनी वडी विचित्रता है । अवगुणवान् यदि अपना भी है तो उसके प्रति तुम्हारा पक्षपात नही है ।

जडे नितान्त सृजसि निवास,
तथापि जाड्य नाङ्गीकुरुषे ।

मृदुलत्व च जहासि न तद्वत्,
तव वैशिष्ट्य कियदेतत् स्यात् ॥४॥

तुम निरतर जल (जड) मे निवास करते हो, परन्तु उसकी जडता को स्वीकार नही करते। तुम अपनी कोमलता को नही छोडते, यह तुम्हारी कितनी महान् विशेपता है।

त्वा विवशीकर्त्तुं यदि जाड्य,
तीव्र रूप स्वस्य करोति।
तदपि ततो दूर स्यात् त्व,
प्राणानप्यर्पयसि विचित्रम् ॥५॥

तुमको विवश करने के लिए यदि जडता तीव्र रूप कर लेती है तव तुम अपने प्राणो को न्योछावर कर देते हो, पर मृदुता को नही खोते, यह कितना आश्चर्य है।

अस्त गच्छति मित्रे सूर्ये,
सकोच तनुसे निजतनुष।
यावन्नोदयमेति पुन स,
तावत् कलयसि नात्मविकासम् ॥६॥

कमल! सूर्य तुम्हारा मित्र है। जव वह अस्त हो जाता है तव तुम भी अपने-आपको सकुचित कर लेने हो। जव तक सूर्य पुन उदित नही होता तव तक तुम अपने आपको विकसित नही करते।

माधुर्यं त्वयि कियदस्तीति,
कुर्यादऽनुमान को विद्वान्।
तव धूल्यामपि लुठति नितान्त,
कविवल्लभरोलम्वकदम्व ॥७॥

तुम्हारे मे कितनी मधुरता है, यह भला कौन विद्वान् अनुमान कर सकता है? देखो, कविजनो का प्रिय भ्रमर तुम्हारे पराग मे निरतर लुठता रहता है।

यश्चरणस्त्रिदशेशकिरीट-
मजुलमणिसघर्पणरक्त ।

तस्याप्युपमानार्थं भुवने,
त्वमेव योग्य प्राप्त कविभि ॥८॥

कमल ! जो चरण इन्द्र के मुकुट की सुन्दर मणियो के सघट्टन से लाल हो जाते हैं, उन चरणो को उपमित करने के लिए कवियो ने तुम्हे ही योग्य समझा है।

दान यो वितरत्यर्थिभ्य,
सम्मान च कृपाप्रार्थिभ्य ।
तस्मै हस्ताय त्वामेव,
विदधत्युपमापदमभिरूपा ॥९॥

जो हाथ दानार्थी लोगो को दान देता है और कृपाकाक्षी लोगो को सम्मान प्रदान करता है, वह हाथ विद्वानो द्वारा तुम्हारी ही उपमा से उपमित है।

चित्र चित्र मुखनयनादे,
शरीरसारस्यावयवस्य ।
उपमान यत्त्वमेव जात,
किं सुकृत कृतमिति जिज्ञासु ॥१०॥

कमल ! मुख, नयन आदि शरीर के सारभूत सारे अवयवो के लिए तुम ही उपमान बने हुए हो। मैं यह जानना चाहता हू कि तुमने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है कि तुम ऐसे उपमान बन पाए हो ?

शरण यातेभ्य सकोचे,
जातेऽपि स्थान दातव्यम् ।
इति शिक्षयितु त्व सन्मनुजान्,
धरसि निशायामलिं स्वकोशे ॥११॥

कमल ! तुम मनुष्यो को यह शिक्षा देते हो कि स्थान का संकोच होने पर भी शरणागत को स्थान अवश्य ही देना चाहिए। इसीलिए तुम रात मे अपने कोश मे भौंरे को स्थान देते हो।

नैयायिकविदुरास्त्वयि रक्ता,
सन्ति नितान्त यदऽभावेपि ।

तव जन्मेच्छव इति निगदन्ति,
गगनेऽम्बुजकुसुम किं न स्यात् ।।१२।।

कमल ! तर्कप्रवण लोक तुम्हारे मे बहुत अनुरक्त हैं। वे अभाव मे भी तुम्हारी उत्पत्ति देखना चाहते हैं। उनका तर्क है—यदि अभाव मे कुछ हो तो आकाश मे कमल का फूल क्यो नही खिलेगा ?

यत्र क्वापि जलाशयमात्रे,
वर्णनीयमम्बुजमित्यर्थम् ।
असन्निबद्ध कृत इति किं रे !,
काव्यशिक्षकाणा त्वयि मोह ।।१३।।

जलाशय मात्र मे कमल का वर्णन कर देना चाहिए—यह असद् निबद्ध कवि-समय (काव्य की आचार-सहिता) है। काव्य-शास्त्रियो का तेरे प्रति यह कितना मोह है ?

लक्ष्मी किञ्चिदपि प्राप्यैव,
शुष्कदारुवद् दारुणभावा ।
ये नमन्ति न हि मनुजास्तांस्तव,
हसन्ति पुष्पाणि स्मितमिषत ।।१४।।

जो व्यक्ति थोडी-सी लक्ष्मी पाकर भी सूखे ठूठ की तरह अकड मे रहते हैं और कभी नही झुकते, उन पर तुम्हारे फूल स्मित के मिष हसते हैं।

शिक्षयन्ति भो ! भो ! द्रष्टव्य-
मस्माक च पितुर्वैशिष्ट्यम् ।
स्वय रमाऽस्मिन् वसति तथापि,
मृदुलत्व न जहाति कदापि ।।१५।।

ये फूल हमे सिखा रहे है कि हमारे पिता की विशेपता देखो, इसमे लक्ष्मी स्वय निवास करती है, तो भी यह मृदुता को नही छोडता।

(वि० स० १९९९ ज्येष्ठ—राजगढ़)

१३ : अनुभवसप्तकम्

अस्मिन् दीर्घे पथि विहरता यत्र लब्ध तमिस्र,
तत्रालोक प्रसृतिमगमन्नाभिचक्रेऽनुदृष्टे।
चित्ते स्थैर्यं गतवति ममाऽनाहते चक्रदेशे,
सर्वे प्राच्या जटिलगतयो ग्रन्थयो मोक्षमापु ॥१॥

जीवन के इस लम्बे मार्ग मे जहा मुझे अन्धकार दिखा, वही नाभिचक्र पर दृष्टि को एकाग्र करने से प्रकाश मिला। अनाहत चक्र पर चित्त को स्थिर करने पर मेरी सारी पुरानी और जटिल ग्रन्थिया खुल गई।

द्रष्टु यत्नो न खलु विहितो दर्पणेस्मिन् स्थितीना-
मेतद् दृश्याकृतिषु बहुषु भ्रान्तिमध्यात्ममेति।
आत्मादर्शे स्फुरति मनसश्चेष्टित पुद्गलाना,
कर्त्तृत्वे हि प्रतिपलमसौ भ्रान्तिरेवानुभूता ॥२॥

स्थितियो के दर्पण मे मैंने देखने का प्रयत्न नही किया। किन्तु इसमे दृश्य बहुत सारी आकृतियो मे मैंने देखा तो मन भ्रान्ति से भर गया। मन की चेष्टाए आत्मा के दर्पण मे स्फुरित होती हैं। मैंने जब-जब उनमे पौद्गलिक कर्तव्य का आरोपण किया तब-तब मुझे भ्रान्ति का अनुभव हुआ।

श्रद्धा बालाऽभवदनुगता यैश्च कैश्चापि तर्कै-
स्तारुण्ये सा नयनपथगा दूरत शङ्कितानाम्।
वृद्धा जाता प्रवरयुवभिर्नेक्षितोपेक्षयेव,
लोकै सर्वै पटुपटुतरैर्व्यत्ययस्तैरकारि ॥३॥

श्रद्धा जब बालिका थी तब वह जिन किन्ही तर्कों के पीछे चलती थी। जब वह तरुणी हुई तब आशकित तर्क उसे दूर से देखने लगे। जब वह वृद्ध हो गई तब

प्रवर तर्क-युवको ने उसे देखा ही नही, उपेक्षा से टाल दिया। इस प्रकार पटु, पटुतर और पटुतम मनुष्य का तर्क के साथ उससे विपरीत व्यवहार होता है— पटु मनुष्य का तर्क वृद्ध, पटुतर का युवा और पटुतम का बाल होता है।

उप्त येन भ्रमवृतधिया वीजमुच्चैर्घृणाया-
स्तस्यच्छाया परिणतविषा प्राक् तमेवादुनोति।
प्रेम्णो वीज प्रकृतिपुलक पार्श्वगेषूप्यमान,
स्वस्मै दत्तेऽमृतमयफल तादृगेवाऽपरस्मै ॥४॥

भ्रम से आवृत मतिवाले जिस व्यक्ति ने घृणा के वीज वोए, उससे उगने वाले वृक्ष की विषैली छाया पहले उसी व्यक्ति को पीडित करती है। अपने पास रहने वाले व्यक्तियो मे जिसने प्रकृति-पुलक प्रेम का वीज वोया, वह स्वय को भी अमृत का फल देता है तो दूसरो को भी वैसा ही फल देता है।

यो वा वृद्धानवगणयति प्राप्तकार्यविरोधान्,
सोवज्ञात सृजति निजक वार्धक दृष्टपार्श्व।
आज्ञावज्ञा सृजति सुगुरोर्योऽनुजाना पुरस्तात्।
सोऽज्ञानेन स्ववचनमहो मूल्यहीन करोति ॥५॥

जो व्यक्ति कार्य करने मे अक्षम वृद्धजनो की अवगणना करता है, वह एक ही पार्श्व को देखने वाला है। ऐसा कर वह अपने ही वृद्धत्व की अवगणना करता है। जो अपने ही अनुजो के समक्ष गुरुजनो के वाक्यो की अवहेलना करता है, आश्चर्य है कि वह अपने ही अज्ञान से अपने वचनो को मूल्यहीन वनाता है।

सघे तिष्ठन्नपि वसति यश्चैकक सोस्ति तुष्ट,
एकस्तिष्ठन्नपि परिवृत कल्पनाभि स रुष्ट।
व्यापिप्रेम्णा क्वचिदपि वसन्नेकक सघगोपि,
प्रेम्णोऽभावे विजनवसतिश्चापि नैकत्वमेति ॥६॥

जो सघ मे रहता हुआ भी अकेला रहता है, वह प्रसन्न रहता है। किन्तु जो अकेला रहता हुआ भी कल्पनाओ से परिवृत रहता है, वह सदा रुष्ट रहता है। व्यापक प्रेम से रहने वाला अकेला व्यक्ति, चाहे कही भी रहे, वह समूह मे ही है और प्रेम के अभाव मे एकान्त मे रहनेवाला व्यक्ति भी अकेला नही है।

आत्मा तत्र प्रणिहितधिया स्याद् बुधेनार्पणीयो,
यस्मिन् भावो भवति सुतरा नैव प्रत्यर्पणस्य।
भावाभावे भवति मनसोऽपि प्रसादो विपादो,
वृक्ष कुर्वन् क्वचन हसित नार्पणार्हो वसन्त ॥७॥

पवित्र बुद्धि वाले विद्वान् को अपनी आत्मा का समर्पण वही करना चाहिए जहा कभी प्रत्यर्पण का भाव उत्पन्न ही नही होता। प्रत्यर्पण की प्राप्ति मे मन की प्रसन्नता और उसके अभाव मे मन का विपाद होता है। वसन्त कभी अर्पण योग्य नही होता, क्योकि वह क्वचित् ही वृक्ष को प्रफुल्लित कर पाता है।

१४ : जयपुरयात्रा

माघे मासे मुनिगणपते राजलादेसरेऽभूद्,
भव्यो वासो वसति मुदितो मूर्तिमान् यत्र धर्म ।
मर्यादाया महसि महति प्राप्तनिर्देशविज्ञा,
सन्त सत्य परिहृतमनोभावभगा व्यहार्षु ॥१॥

विक्रम सवत् २००५ माघ महीने मे आचार्यश्री तुलसी का भव्यवास राजलदेसर मे था। उस समय ऐसा लग रहा था, मानो कि वहा धर्म मुदित होकर मूर्तिमान् हो रहा है। महान् मर्यादा महोत्सव मे निर्देश प्राप्त कर विज्ञ साधु-साध्वी अपने-अपने मनोभावो को गुरुचरणो मे समर्पित कर गुरु के आज्ञानुसार अपनी-अपनी दिशाओ मे विहार कर गए।

मन्त्री मग्नो गुरुमनुचरन् सर्वदा जीवनर्द्धि-
र्देहश्चित्त पवनमिव वा वारिवाहोऽनुकूलम् ।
नून कीदृग् गुरुचरणयोर्दूरतोऽवस्थिति स्या-
द्दोला मुञ्चन् गतिमिव शिशु पूर्वमेवान्वभूत्ताम् ॥२॥

जैसे—देह चित्त का और बादल अनुकूल पवन का अनुसरण करता है वैसे जीवन-सपदा से सम्पन्न मत्री मुनि मगनलालजी सदा गुरु के साथ चलते थे। गुरु से दूर अवस्थिति कैसे होती है, उसका पहली बार ही अनुभव किया था। जिस प्रकार बच्चा पालने को छोडकर पहली बार गति का अनुभव करता है, वैसे ही मत्री मुनि ने गुरु-चरण से दूर की अवस्थिति का पहला अनुभव किया।

दृष्टि पश्यन् सविधवसति किं स्मय पूजयेत्ता,
चित्र तस्या रचयति तथाऽभ्यर्चन दूरवर्ती ।

इत्याशसा मनसि निदधच्चम्पकोऽपि व्यहार्षीत्,
किन्त्वादेशे नयनपथगे तत्कथ भावि सिद्धम् ॥३॥

गुरु के सान्निध्य मे रहनेवाला गुरु की दृष्टि की आराधना (पूजा) करता है, इसमे आश्चर्य ही क्या है ? किन्तु जो दूर रहकर उसकी आराधना करता है, वह आश्चर्य है। इस आशसा को मन मे धारण कर 'चपकमुनि' (बडभ्राता) वहा से अन्यत्र विहार कर गए। किन्तु उनका यह मनोरथ (दूर रहकर गुरु की दृष्टि की आराधना करूगा) कैसे सिद्ध होगा, जबकि गुरु का आदेश प्रतिपल उनकी आखो के सामने है।

क्रूरे मार्गे गतिमति युगे . यत्रपादैरुदग्भि-
र्नम्रा वृत्तिर्मृदुलचरणा पृष्ठगा तत्र जाता।
सेवासक्ता यमिनि नियत यायिनि प्रेममार्गे,
वन्दारुत्वे विहरणगतेर्दर्शन जातमस्या ॥४॥

तारकोल की सडक और बीच-बीच मे निकले हुए नुकीले पत्थर के टुकडे—ऐसे पथ पर आधुनिक वाहन अपने यान्त्रिक चरणो द्वारा चल रहे हैं। किन्तु नम्रवृत्ति के चरण मृदुल होते है, इसलिए वह (वृत्ति) पिछड गई—उस मार्ग पर नही चल सकी। वह निश्चित रूप से प्रेम-मार्ग पर चलने वाले साधुओ की सेवा मे लीन हो गई। साधु वर्ग के विहार के समय की जानेवाली वदना के क्षणो मे इसका प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा था।

शीते शान्तिर्मिलति सुतरा तत्र लोकोऽविवेकी,
दास्यं मृत्ता प्रकृतिजडतामूहते सानुभावम्।
किञ्चिद् ग्रीष्म समजनि मनो रोदसी प्रापदौष्ण्यम्,
कोपोऽसह्यो भवति महता यन् मुधारोपजन्य ॥५॥

शीतलता से सदा शान्ति मिलती है। किन्तु लोग अविवेकी हैं। वे शीतलता पर दास्यभाव, मिट्टी होने और प्रकृति से जड होने का आरोप लगाते हैं। जब शीतकाल का मन इस आरोप से तप्त हुआ तो आकाश और भूमि दोनो तप उठे। यह सच है कि महान् व्यक्ति का, व्यर्थ के आरोप से उत्पन्न, क्रोध असह्य होता है।

साङ्गोपाङ्गा नभसि विटपी भूरिशाखा वितन्वन्,
भूम्या मूल द्रढयितुमल किं न वा पादचारी।

आचार्योऽपि प्रथितमहिमा शिष्यवर्गं वितत्य,
दूर दूर स्वयमुपसृत पुर्वरे सारदारे ॥६॥

वृक्ष अपनी शाखाओ को आकाश मे पूर्णरूप से फैलाकर अपने मूल को भूमि में मजबूत करने के लिए अपनी जडो के सहारे भूमि में घूमता है। उसी प्रकार महिमाशाली आचार्य तुलसी भी सारे भारत में अपने शिष्यो को फैलाकर स्वय दूर-दूर तक विहरण करते हुए सरदारशहर पधारे।

पौरे लोके विकचहृदये स्वागतार्थं समेते,
पादे भाल दधति सुमुनेर्धूसरे मार्गधूल्या।
त्यागो भोग जयति सतत सूक्तिरेषा पुराणा,
सार्थाऽमुष्मिन्नपि कलियुगे केन नेति प्रतीतम् ॥७॥

आचार्यप्रवर के पदार्पण से सरदारशहरवासी लोगो का हृदय प्रफुल्लित हो गया। वे सारे स्वागत करने के लिए एकत्रित हुए। वे मार्ग की धूली से खरडे आचार्यश्री के पैरो पर अपने भाल रखने लगे। 'त्याग भोग को जीत लेता है'— यह उक्ति पुरानी है। किन्तु इस कलियुग में भी उसकी सत्यता का किसने अनुभव नही किया ?

भूतज्ञान नयनविकल यद् यदाविष्करोति,
तत्तद् यूय युगलनयना किं प्रयुङ्ध्व मनुष्या।
अस्त्र नाणो किमपि भविता शान्तिरक्षाधिकारि,
सत्य शान्ति मृगयथ तदाणुव्रतान्याश्रयध्वम् ॥८॥

मनुष्यो! नेत्रहीन पदार्थ-विज्ञान जो-जो आविष्कार करता है, उस सबका तुम दो आख वाले होते हुए भी क्यो प्रयोग कर रहे हो ? अणु-अस्त्र शाति और रक्षा करने वाला नही होगा। यदि तुम सत्य और शाति के वास्तविक इच्छुक हो तो अणुव्रतो नो अपनाओ।

भव्यालोके विपुलमृदुले तापिते चारुणेन,
पुण्ये मार्गे शम इव सता मानसे सत्सहिष्णौ।
काम गच्छन् सगणमुनिप प्राप्तवान् रत्नदुर्गं,
लक्ष्ये दृष्टि क्षिपति पुरुषे दुर्लभा नार्थसिद्धि ॥९॥

प्रकाशित, सूर्य द्वारा तप्त और अत्यन्त मृदु उस पुण्य मार्ग पर चलते हुए

आचार्य तुलसी अपने गण के साथ उसी प्रकार रतनगढ पधारे, जिस प्रकार सहिष्णु और सज्जन व्यक्तियो के मन मे शान्ति का पदार्पण होता है। जिस व्यक्ति की दृष्टि लक्ष्य पर होती है, उसके लिए लक्ष्य-प्राप्ति दुर्लभ नही होती।

नि सन्तान प्रथितधनिकश्चिन्तया चान्तचेता,
धान्याभावे विकलकृषिको दग्धचेत क्रियश्च।
नैवाद्राष्टा वियतिनिकर केवल सद्घनाना,
स्याद वा नो वा सघनजडतापीति पर्येक्षिपाताम् ॥१०॥

नि सन्तान, यशस्वी धनिक चिन्तातुर होकर आकाश को देखता है। धान्य के अभाव से व्याकुल किसान का हृदय जल उठता है और वह भी निष्क्रिय होकर आकाश को निहारता है। दोनो ने आकाश मे केवल मेघ-समूहो को ही नही देखा किन्तु वे वरसते हैं या नही वरसते—एतद्विषयक उनकी जडता को भी देखा। कही मेघ अनावश्यक वरस जाते हैं और कही आवश्यक होने पर भी नही वरसते।

प्रायो ग्रीष्मप्रकृतिरुचित लड्घ्यते सावलेप,
उष्णस्ताप प्रचुरमतनोच्चैत्रमासे तथापि।
लोकैर्नून नवकिसलयै पुष्पकाल प्रतीतो,
लोप्तु शक्या न खलु सहजा दुर्जनै सज्जनाभा ॥११॥

गरम प्रकृति के लोग प्राय अभिमान के लेप से औचित्य का उल्लघन कर डालते हैं। ग्रीष्म चैत्रमास मे भी भयकर ताप देने लगा। फिर भी लोगो ने नए किसलयो के कारण उस समय को पुष्पकाल (वसन्त) ही माना। सच यह है कि दुर्जन व्यक्ति सज्जन पुरुषो की आभा को सहज नष्ट नही कर सकते।

रे रे! वन्हि शमयसि सता तेजसेयान् विरोध,
शैत्य वारा हृतमित रुपा ही निदाघेन कोपात्।
तेनाप्यम्भ प्रकृतिरथ किं व्यत्यय तत्र याता,
दोपान्न स्यात् क्वचन विरतिर्यद् विना भावशुद्धय ॥१२॥

जल! तुम आग को बुझा डालते हो। उस श्रेष्ठ प्रकाश के साथ तुम्हारा इतना विरोध क्यो? मैं समझ गया, ग्रीष्म ऋतु ने क्रुद्ध होकर तुम्हारी शीतलता का हरण कर डाला, तुम्हे गरम कर दिया। पर उससे तुम्हे क्या? क्या इससे तुम्हारी प्रकृति वदल गई? नही वदली। अव भी तुम आग के लिए पानी ही हो। भावना की शुद्धि के विना दोषो से विरति नही हो सकती।

चूरूपूर्यां गमनमभवत् साधयत् साधुभावान्,
स्थित्या नास्ते गतिरिह गतावेव सा लब्धरूपा।
मन्ये भाग्य न गतिविकला यत् स्थितिश्चान्यथा तु,
प्रत्ना नूत्ना अपि च जरिणो नार्भका स्यु कदाचित् ॥१३॥

श्रेष्ठ भावो का सर्जन करता हुआ आचार्यश्री का आगमन चूरू नगर मे हुआ। स्थिति मे गति नही होती किन्तु गति मे स्थिति होती है। यह सौभाग्य है कि गति से विकल स्थिति नही होती अन्यथा नए पुराने और बालक बूढे कभी नही होते।

केचिद् ग्रामाश्चरणविषया पार्श्वगा अप्यजाता,
किं पार्श्वस्थो भवति विषयो नेत्रयो पक्ष्मदेश।
साक्षाद् दृष्टस्तदिह मुकुरे नूनमानन्ददायी,
तत्राप्यासीद् विहरणमल किन्न तद्रूपकल्प्यम् ॥१४॥

कई गाव अत्यन्त पास मे थे, किन्तु आचार्य-प्रवर का वहा पदार्पण नही हुआ। क्या आख के निकटवाला पक्ष्म का भाग कभी आख का विषय बना है? किन्तु जब वह काच मे साक्षात् दीख पडता है, तब अवश्य ही वह आनन्ददायी होता है। दर्पण मे पक्ष्मदेश को देखने की भाति उन गावो मे भी विचरण क्यो नही हुआ—यह प्रश्न बना ही रहा।

नाना ग्रामैर्विविधरुचिरैर्मानवैर्मानरम्यै-
र्नाना मार्गैर्बहुविधमृदा स्पर्शनैर्नैकवातै।
नाना नीरैर्नवनवगृहैर्नैकचिन्ताप्रवाहै,
सात्म्य लब्ध्वा श्रमणपतिभिर्योगिवृत्त्या व्यहारि ॥१५॥

विभिन्न गाव, विविध रुचि और श्रेष्ठ मान वाले मनुष्य, विभिन्न मार्ग, बहु प्रकार की मिट्टी का स्पर्श, विविध प्रकार की हवाए और पानी, नए-नए घर और भिन्न-भिन्न विचार—इन सबके साथ एकात्मकता स्थापित करते हुए आचार्य श्री योगी की वृत्ति से विहार करने लगे।

जयपुरे जयघोष उदच्छलद्,
विजयमागमिन ध्वनितु ध्रुवम्।

सपदि तेन च शून्यमपूर्यत,
भवति तद्विलये ह्य दयश्चिदाम् ॥१६॥

आचार्यश्री जयपुर पधारे। आगन्तुक अतिथि की विजय को शब्दायित करने के लिए जयघोष होने लगा। सहसा सारा आकाश उस जयघोष से भर गया। उसके विलीन होने पर चैतन्य का उदय होता है।

ये प्रार्थनाया प्रचुराश्रुवाहा,
सप्रत्यहो ते प्रमुदश्रुवाहा।
हर्षे विषादेऽपि समा प्रवृत्ति,
द्रष्टुर्महच्चित्रमथानने न ॥१७॥

आचार्यश्री के पदार्पण की प्रार्थना के समय लोगो के जो अश्रु-प्रवाह थे, वे आज हर्ष के प्रवाह मे बदल गए। आचार्यप्रवर हर्ष और विषाद मे समप्रवृत्ति वाले हैं किन्तु दर्शक व्यक्तियो के चेहरे पर वह वृत्ति नही थी, यह आश्चर्य है।

आद्यो वासोऽजनि मुनिपतेठोंलियावासमध्ये,
तस्मिन्नेको मुनिपसविध साम्यवादी समेत।
धर्मव्याख्या सुमतिसुलभा पूज्यपादैरदायि,
सोऽवक् कोस्मिन् भवति विमतिर्लोककल्याणहेतौ ॥१८॥

जयपुर मे आचार्यप्रवर का पहला निवास 'ठोलिया' भवन मे हुआ। उस दिन आचार्यश्री के पास एक साम्यवादी व्यक्ति आया। उस समय पूज्यश्री ने धर्म की बुद्धिगम्य व्याख्या प्रस्तुत की। यह सुनकर उसने कहा—ऐसे कल्याणकारी धर्म से कौन व्यक्ति विमुख हो सकता है?

सत्तात्मकेन द्रविणात्मकेन,
धर्मेण दध्मो नितरा विरोधम्।
हिंसाप्रतीकारकृतेऽपि हिंसा,
ग्राह्या न वा श्वापदवृत्तय स्म ॥१९॥

स्याद् हिंसया हिंसकजीवनाश-
दमो न हिंसाप्रतिकार एवम्।
अहिंसया जीवनमेत्यहिंसा,
व्याहारि सार मुनिनायकेन ॥२०॥

आचार्यश्री ने धर्म का सार प्रस्तुत करते हुए कहा—'सत्तात्मक और अर्थात्मक धर्म के साथ हमारा विरोध है। हमारा सिद्धात है कि हिंसा के प्रतिकार के लिए हिंसा ग्राह्य नही होनी चाहिए। यदि वह ग्राह्य हो तो इसमे और हिंस्र पशु मे अन्तर ही क्या रहेगा ? हिंसा से हिंसक जीव का नाश और दमन हो सकता है, किन्तु उसका प्रतिकार नही होता। अहिंसा से अहिंसा को प्राण मिलता है।'

उच्चैरुच्चै सघनजलदा आवृतानन्तलीला,
प्रादुर्भूता पदि पदि जनै सत्कृता भूरिनीरा।
भाराक्रान्ता विहितनतयो वातसकेतिताया,
विद्युद्दीप्रा दिशि गतिमिता गर्जिनृत्यन्मयूरा ॥२१॥

आकाश मे बहुत ऊचे, पानी से भरे मेघ उमड आए। उन्होने आकाश को ढक दिया। स्थान-स्थान पर लोगो ने उनका सत्कार किया। पानी से भारी होने के कारण वे नीचे झुके और वायु के द्वारा सकेतित दिशा मे गति करने लगे। उनके साथ बिजली का दीप था और उनके गर्जन को सुनकर मयूर नाच रहे थे।

वर्षारम्भ शमरसमय पूज्यवाण्या प्रसूतो,
हर्षोल्लोलानकृत मनुजान् सर्वसतापहारी।
मेघाभावे कृतदृढपदा अन्तरुच्छ्वासवाष्पा,
प्रश्नीभूय न्यधिषततमा बाह्यरूप समन्तात् ॥२२॥

वर्षा का आरभ आचार्य-प्रवर की शात रसमय वाणी से प्रारभ हुआ। यह वाणी सभी सतापो का हरण करने वाली थी। उसने मनुष्यो को हर्षान्वित कर दिया। उनके आन्तरिक उच्छ्वास का वाष्प मेघ के अभाव मे काफी दृढ हो चुका था। उसको उन्होने प्रश्नो का बाह्यरूप देकर प्रस्तुत किया।

महाविद्यागारे प्रवचनमभूत् सार्वजनिक,
घनारब्धा स्पर्धा सघनजलधाराभिरुदिता।
नृणा गत्यावेगस्तमपि समवाधिष्ट सुतरा,
यत स्पर्धा स्पर्धां जनयति निजोद्भूतिनियमात् ॥२३॥

एक दिन संस्कृत महाविद्यालय में सार्वजनिक प्रवचन रखा गया था। इधर बादलों ने सघन जलधाराओं से स्पर्धा प्रारम्भ की। किन्तु आचार्यश्री का प्रवचन सुनने के इच्छुक मनुष्यों की गति का वेग उन धाराओं को भी बाधित करने लगा। स्पर्धा स्पर्धा को जन्म देती है, यह उसी के उद्भव का आन्तरिक नियम है।

(वि० २००६ पौष)

१५ : रणथंभोरयात्रा

वर्पाकाल युगलमवमद् यत्र भिक्षुर्मुनीश-
स्तन्मार्गोऽय नयनविपयो नाप्यभूदुत्तरार्यै ।
एतद् युक्त किमिति सुपथा प्रार्थना धारयित्वा,
सघेनामा रणदभवरे पूज्यपादा अगच्छन् ॥१॥

तेरापथ के प्रथम आचार्य भिक्षु ने जहा दो चातुर्मास विताए थे, वहाँ उत्तरवर्ती आचार्यों ने उसका रास्ता ही नही देखा। वहा पहुचाने वाले विभिन्न मार्गो ने कहा—'क्या यह उचित है?' उनकी प्रार्थना हृदय मे धारण कर आचार्यप्रवर श्री तुलसी अपने सघ के साथ 'रणदभवर' पधारे।

योगो जातो यामयुग्म नगेन,
प्रत्येक स्यान् मूल्यवान् यत्क्षणोऽपि ।
नो बुद्धचन्ते तद्गतामघता ये,
ते तेनापि त्यज्यमानास्तदैव ॥२॥

आचार्यश्री रणदभवर पर दो प्रहर तक ठहरे। क्योकि प्रत्येक क्षण का अपना मूल्य होता है। जो लोग समय के मूल्य को नही समझते, वे उसके द्वारा उसी समय ठुकरा दिए जाते हैं।

एका गीतिर्व्यरचि मुनिपैर्मन्दिरे पर्शुपाणे,
स्तोकै शब्दै सुकृतिसुलभ वर्णित दुर्गवृत्तम् ।
दूरस्थास्ते वयमिति कुतो दृश्यमाना सुदृष्टया,
वात्सल्य नो रचयति मिदा दूरत पार्श्वतो वा ॥३॥

आचार्यश्री ने वहा शिव मन्दिर मे एक गीतिका रची। उसमे थोडे शब्दो मे दुर्ग का वृत्तान्त सुन्दर ढग से वर्णित है। उस गीतिका के गान के समय हमारी

स्मृति हुई। क्योकि उस समय हम कुछ दूर (भगवतगढ मे) थे। किन्तु उनकी कृपापूर्ण दृष्टि से हम देखे जा रहे थे। यह सच है कि कोई दूर हो या पास, वात्सल्य कभी भेद नही करता।

दुर्गे नृणा नो सुकर प्रवेश,
चित्ते गुरो शश्वदनाश्रवाणाम्।
मार्गा समन्तादुपलैरुपेता,
क्रूरैर्विकल्पैरिव दुष्टसत्त्वा ॥४॥

जिस प्रकार गुरु के चित्त मे अविनीत शिष्यो का प्रवेश सुकर नही होता, उसी प्रकार उस दुर्ग मे मनुष्यो का प्रवेश सुकर नही था। जिस प्रकार दुष्ट प्राणियो के मन क्रूर विकल्पो से भरे रहते हैं, उसी प्रकार वहा के सभी मार्ग उपल खडो से भरे पडे थे।

भीत्येव यत्प्रोन्नतपर्वताना-
मन्तर्गत राजति सर्वतोऽपि।
सरक्षकव्याजमुपेत्य मन्ये,
सेनाधिपोन्तश्चमुसस्थितोऽस्ति ॥५॥

वह दुर्ग डर के कारण उस उन्नत पर्वतमाला के बीच मे बैठा हुआ था, मानो सरक्षक होने के बहाने सेनापति अपनी सेना से घिरा हुआ बैठा हो।

कूर्दद्भि कपिभिश्चिर चलदला शाखानुशाख प्रिय,
कल्लोलै सरसीव बुद्धिरथवा सकल्पजालैरिव।
मार्गञ्चोभयतो घना खगकुलैश्छन्ना तरूणा तति-
रागच्छत्पथिकैरिव प्रणयतो वार्त्तापरेवानता ॥६॥

जैसे ऊर्मिमाला से तालाब और सकल्पजाल से बुद्धि प्रकपित होती है, वैसे ही एक शाखा से दूसरी शाखा पर छलाग भरते हुए बदरो के द्वारा जिसके पत्ते हिल रहे थे तथा जो पक्षी-समूह से आच्छन्न थी, वह वृक्षो की सघन श्रेणी आने वाले पथिको के साथ प्रेमपूर्ण वार्ता करने के लिए पथ के दोनो ओर झुक रही थी।

सस्प्रष्टु सवितु. करा महिमल सचेष्टमाना अपि,
निश्छिद्रैश्छदनै प्रसह्य विमुखा साध्वी यथा कामिन।

छिद्रान्वेषणतत्परा क्वचिदहो लब्धावकाशा पुन-
श्छायाभगमकार्षुरात्मपतनात्तस्या हि धिक्कामुकम् ।।७।।

सूर्य की किरणें वहा की भूमि का स्पर्श करने के लिए चेष्टा कर रही थी किन्तु सघन वृक्षो के पत्तो की निश्छिद्रता के कारण वे सफल नही हो रही थी, जिस प्रकार कामी पुरुष साध्वी स्त्री का स्पर्श करने मे सफल नही होते। कही-कही छिद्रान्वेषी किरणें भूमि-स्पर्श का अवकाश पाकर उसकी छाया (पक्ष मे शोभा) का भग कर रही थी। किन्तु वे ऐसा अपने आत्म-पतन के द्वारा ही कर पा रही थी। कामुक व्यक्ति को धिक्कार है।

शाल खण्डहर पुराणविभुतासाक्ष्य प्रसर्पन्निव,
लञ्चाया अवधे प्रतीक्षक इव स्वात्मानमारक्षति ।
सिंहद्वारगतैश्च राजपुरुषै सरक्षिते वर्त्मनि,
शक्तो नैव पलायितु तत इतो झम्पामपि प्राश्रयत् ।।८।।

वहा का परकोटा खडहर था। वह अपनी प्राचीन विभुता को प्रकट कर रहा था। वह अपने आप की रक्षा यह मान कर रहा था कि उसके द्वारा ली हुई लचा की अवधि मानो पूरी नही हुई हो। प्रवेश-द्वार पर खडे सिपाहियो द्वारा सरक्षित मार्ग से वह दौड नही सकता इसलिए इधर-उधर उसने झपापात भी किया है।

तन्मन्ये विजनस्थितै शिखरिणामभ्रलिहै सानुभि,
काम क्रूरमुखैरसयतकचैर्वृक्षव्रजव्याजत ।
लब्धु नागरसभ्यता बहुगुणामास्थापितो मूर्धनि,
प्राकार कथमन्यथाऽत्र विपमे तद्भित्तय सयुता ।।९।।

मैं मानता हू कि उस विजन प्रदेश मे स्थित पर्वतो के अत्यन्त ऊचे और तीखी नोक वाले शिखर वृक्षो के मिप से इधर-उधर विखरे केशो वाले होकर अनेक गुणो वाली नगर-सभ्यता को पाने के लिए अपने मस्तक पर प्राकार को धारण कर रहे थे, अन्यथा उस विपम पर्वत पर उस प्रकार की भित्तिया सयुत कैसे होती ?

आरोहता तत्र पदो विचिन्वता,
श्वास पुरोधावितुमाशु लग्न ।

ते के यदुच्चैर्व्रजता जनाना,
न नाम दौत्य रचयन्ति भक्त्या ॥१०॥

आरोहण के समय जब पैर आगे बढे तब श्वास इतना तेज हो गया कि वह आगे दौडने लगा। ससार मे ऐसे कौन हैं जो ऊपर चढने वालो का भक्ति से दौत्य न करते हो ?

कथ कुत केन विचित्रमेतत्,
पद सुरक्षोचितमन्वशोधि ।
अवक्तुकामा अपि तत्र लोका,
वाचालता यान्ति तदीक्षणेन ॥११॥

मूक रहने वाले लोग भी वहा उस दुर्ग को देखकर, सुरक्षा का यह उचित स्थान कैसे, कहा और किसने ढूढ निकाला—इस प्रकार वाचाल हो जाते हैं।

दुर्गं दिदृक्षा त्वरयत्यजस्र,
रुणद्धि पादान् सुरभिद्रुमालि ।
एतद् विरोधोपशमेऽन्वगच्छन्,
निजानशक्तान् कवयोपि कामम् ॥१२॥

दुर्ग को देखने की इच्छा गति मे त्वरा ला रही थी। किन्तु सुरभित वृक्षो की श्रेणी पैरो को रोक रही थी। इस परस्पर विरोध का उपशमन करने के लिए कवियो ने भी अपने आपको असमर्थ पाया।

धान्याऽभावे वसति न जनस्तत्कुत क्षुत्समाधि-
रालोच्यैव मनसि सुतरा यत्र लम्बोदरोऽपि ।
सकोच्य स्व वपुषि धरते केवल वारणास्य,
राहू राहो शिर इति नयो द्वैतमापच्च नेन ॥१३॥

धान्य का अभाव होने के कारण वहा कोई मनुष्य नही रहता। ऐसी स्थिति मे भूख समाहित कैसे हो—मन मे ऐसा सोचकर गणेशजी भी अपने आपका सकोच कर, शरीर पर केवल हाथी का मुह (सूड) मात्र धारण करने लगे।[1]

तर्कशास्त्रीय नय के अनुसार राहु का सिर नही कहा जाता। राहु का

---

१ वहा एक मन्दिर मे गणेशजी की मूर्ति है। उसके केवल सूड है, उदर नही है।

केवल सिर ही होता है, वह राहु शब्द से गृहीत हो जाता है। किन्तु उस गणेश की मूर्ति का केवल सिर देखने के बाद यह लगा कि वह तर्कशास्त्रीय नय दोहरा हो गया है—एक राहु के लिए और एक गणेश के लिए।

वप्रान्ते शिखरी तनु विभजते द्वेधा विशालोदर,
मन्ये सुस्थिरचेतसोश्च सुहृदोर्दैवाद् द्विधाभून्मन ।
लोकैस्तत्परिखेति नाम कथित रक्षैव सा साकृति-
र्नीर नापरथा नु को हि मतिमाल्लकासमुद्र स्मरेत् ॥१४॥

उस दुर्ग के अन्त मे, पर्वत ने अपने विशाल शरीर को दो भागो मे विभक्त कर डाला था[1]। वह ऐसा लग रहा था मानो कि भाग्यवश सुस्थिर चित्तवाले दो मित्रो का मन टूटकर दोटूक हो गया हो। लोगो ने पर्वतो के बीच के उस स्थान को 'खाई' कहा है। वह स्वय मूर्तिमती रक्षा के समान थी। वह अत्यन्त विशाल थी। उसमे पानी नही था। अन्यथा उसे देखकर कौन बुद्धिमान् मनुष्य लका के समुद्र का स्मरण नही करता ?

द्रुमा अहपूर्विकयोन्नतास्या-
स्तत्पूरणायात्मनि चेष्टमाना ।
विक्रेतुरेपा क्षतिपूर्तिचेष्टा,
क्व सार्थका स्याद् व्यवहारशून्या ॥१५॥

आकाश मे फैलते हुए वृक्ष उस खाई को पाटने के लिए अपने आप मे स्पर्धा कर रहे थे। किन्तु उनका वह प्रयास व्यवहारशून्य होने के कारण सार्थक नही हो सका। जैसे कोई वणिक् व्यवहार (व्यापार) को छोडकर अपना घाटा पूरा करना चाहे तो उसकी वह व्यवहारशून्य प्रवृत्ति सफल नही होती, वैसे ही वृक्ष भी असफल हो रहे थे।

एक तद्दिवस यदत्र रिपवो हम्मीररक्षास्थले,
द्वारा दर्शनलालसा अतिथय प्रेताधिपस्याऽभवन् ।
एक साम्प्रतिक यदत्र गहन हिंस्राकुल भ्राजते,
दृष्टा केन न वक्रता हि समये रङ्गस्थले नृत्यता ॥१६॥

यह दुर्ग हमारी रक्षा का स्थल था। एक दिन वह था जब दुर्ग के द्वारो

---

१ वहा दो पर्वतो के बीच मे एक प्राकृतिक खाई थी।

को आकाक्षा की दृष्टि से देखनेवाले व्यक्ति यमराज के मेहमान बन जाते। एक दिन आज का है कि यह सारा स्थल हिंस्र पशुओ से व्याप्त है। यह ठीक ही है कि रगभूमि मे नाचनेवाला कौन प्राणी वक्रता (परिवर्तन) का अनुभव नही करता ?

स्थाने स्थाने शीर्णकाया शतघ्न्य,
स्फीत मृत्योराननं सस्पृशन्त्य ।
नातिक्रान्तो मारकस्यापि मृत्यु-
रित्याख्यातु व्याददाना स्वमास्यम् ॥१७॥

स्थान-स्थान पर मौत की तरह मुह फाडे तोपें पडी थी। उनका फटा हुआ मह यह कह रहा था कि मारने वाले की भी मृत्यु होती है।

गुप्ता गगा पुष्कराढ्यास्तटाका,
स्मार स्मार प्राक्तन वैभव स्वम्।
कु सिचन्तो वाष्पविन्दुप्रवाहै-
र्नो 'विश्रान्ता विद्युदुत्प्लावियन्त्रै ॥१८॥

वहा एक स्थान पर गुप्त गगा थी। वहा के तालाव कमलो से भरे-पूरे थे। सरकार ने उस (गुप्त गगा) को खाली करने के लिए विद्युत् के यन्त्र लगाए, फिर भी वह खाली नही हुई। कवि की कल्पना मे उसका हेतु यह है कि अपने पुराने वैभव को याद करती हुई वह गगा आसुओ के प्रवाह से भूमि को आर्द्र कर रही है, इसलिए उसका जल सूख नही रहा है।

क्रूरैर्मेघैर्भूधराणा शरीरे,
धारा पातैरूर्जितानि क्षतानि।
वर्षान्तेपि न्यक्षिपन्त्यम्बु तज्ज,
के के मुक्ता हा' प्रतीकारबुद्ध्या ॥१९॥

क्रूर मेघो ने पानी की अपनी धाराओ से पर्वतो के शरीर पर अनेक घाव कर डाले थे। वर्षा ऋतु के अन्त हो जाने पर भी पर्वत निर्झर के मिष से उस पानी को नीचे फेंक रहे थे। इस ससार मे ऐसे कौन प्राणी हैं जो प्रतिकार की भावना से मुक्त हो ?

उच्चैरुच्चै पर्वतै पात्यमान,
मार्गे मार्गे प्रस्तरैरुध्यमानम्।
स्थाने स्थाने सेतुभिर्बध्यमान,
पादे पादे पाशुना श्लिष्यमाणम् ॥२०॥

पीनैर्मीनै सतत क्षुभ्यमाण,
पान्थैराशूच्छिष्यमाण तथापि।
स्रोतस्तोय काममस्ति प्रसन्न,
न प्राणान्ते यद् विलक्षा महान्त ॥२१॥

स्रोत का पानी ऊचे-ऊचे पर्वतो से नीचे गिराया जाता है, मार्ग-मार्ग पर प्रस्तरो से रोका जाता है, स्थान-स्थान पर बाधो द्वारा एकत्रित किया जाता है, पग-पग पर रेत से आश्लिष्ट होता है, पुष्ट मत्स्यो द्वारा सदा क्षुब्ध किया जाता है और पथिको द्वारा उच्छिष्ट किया जाता है, फिर भी वह स्वच्छ और निर्मल रहता है। यह सच है कि महान् पुरुष प्राणान्त मे भी उदास नही होते।

२२ उच्चैरुच्चैरुपलशकलान्याह्वयन्तेऽध्वनीनान्,
दृश्या दृश्या स्फुरितनयनै खण्डिता राज्यलक्ष्मी
को वाऽखण्ड स्फुरति ममतामूर्च्छितो मानवोऽत्र,
नम्र कम्रो भवति भुवने यो नमेद् भज्यते न ॥२२॥

वहा के उपलखड जोर-जोर से पथिको को आह्वान कर रहे हैं कि तुम खण्डित राज्यलक्ष्मी को आख फाड-फाडकर देखो। इस ससार मे ममता से मूर्च्छित कौन मानव अखण्ड रह सका है ? जो नम्र होता है वही कमनीय होता है। जो नत होता है वह टूटता नहीं।

(वि० २००६ पौष)

१६ : पुण्यपापम्

सर्वे सम्मिलिता जाता,
पुण्ये विद्यालयाङ्गणे ।
विद्यार्थिन. शिक्षकाश्च
तत्रैक पृष्टवानिदम् ॥१॥

विद्यालय के पवित्र प्रागण मे शिक्षक और विद्यार्थी एकत्रित हुए। उस समय एक विद्यार्थी ने पूछा—

कथमध्यापकश्रेष्ठ !
भवाम सफला वयम् ।
जिज्ञासामो वयं सर्वे,
करोतु पथदर्शनम् ॥२॥

अध्यापक-प्रवर ! हम जीवन मे सफल कैसे हो सकते हैं ? यह हम सबकी जिज्ञासा है। आप हमारा मार्गदर्शन कीजिए।

अध्यापको मृदु प्राह,
यूय शृणुत सादरम् ।
भवेत सफला यूय,
तानुपायान् वदाम्यहम् ॥३॥

अध्यापक ने कोमल स्वर मे कहा—विद्यार्थियो ! तुम आदरपूर्वक सुनो। मैं तुम्हे उन उपायो का शिक्षण दूगा, जिन्हे सीखकर तुम सफल हो सकते हो।

उपाय प्रथम तत्र,
स्वावलम्ब वदाम्यहम् ।

स्वावलम्बी जनो नित्य,
जीवनें सफलो भवेत् ॥४॥

अध्यापक ने कहा—जीवन मे सफल होने का पहला उपाय स्वावलम्बन है। स्वावलम्बी मनुष्य सदा सफल होता है।

जिज्ञासा शिक्षकश्रेष्ठ!
स्वावलम्बनमस्ति किम् ?
स्वावलम्बी कथ भूयो,
जीवने सफलो भवेत् ॥५॥

विद्यार्थी ने पूछा—शिक्षक-प्रवर! मेरी जिज्ञासा है कि स्वावलम्बन किसे कहा जाता है और स्वावलम्बी कैसे सफल होता है ?

स्वहस्ते स्वस्य पादे च,
विश्वासो विद्यते दृढ ।
स्वावलम्बनमेतत् स्यात्,
आत्मनिर्भरताप्यसौ ॥६॥

अध्यापक ने कहा—अपने हाथो और अपने पैरो मे जो दृढ विश्वास है—अपने पुरुषार्थ पर जो भरोसा है, उसका नाम स्वावलम्बन है। इसे आत्म-निर्भरता भी कहा जाता है।

परावलम्बनग्रस्तो,
निज विस्मरति ध्रुवम ।
विफलो जायते तेन
जीवनेस्मिन् पदे पदे ॥७॥

जो मनुष्य परावलम्बन की बीमारी से ग्रस्त होता है, वह अपने आपको भूल जाता है, इसलिए वह जीवन मे पग-पग पर विफल होता है।

स्वावलम्बनसलीन,
सतत स्मरति स्वकम् ।
सफलो जायते तेन,
जीवनेस्मिन् पदे पदे ॥८॥

जो मनुष्य स्वावलम्बन मे मस्त होता है, वह अपने आपको सदा स्मृति मे रखता है, इसलिए वह जीवन मे पग-पग पर सफल होता है।

वार्तां प्रकथयाम्येका,
टालस्टायस्य धीमत ।
स्वावलम्बनसाफल्य
स्फुट ज्ञात भवेद् यत ॥९॥

मैं तुम्हे महाप्राज्ञ टालस्टाय की एक घटना सुनाता हू। उसे सुनकर स्वालम्बन की सफलता स्पष्टतया ज्ञात हो जाएगी।

स्वावलम्बा कथ स्याम ?
वय स्मो धनिना सुता ।
कार्यं कुर्याम हस्तेन,
भवामो लघवस्तदा ॥१०॥

कुछ विद्यार्थी खडे हुए और वोले—अध्यापक-प्रवर ! हम धनिको के पुत्र हैं, हम स्वावलम्बी कैसे वने ? यदि हम अपने हाथ से काम करें तो छोटे हो जाए—हमारे वडप्पन की मर्यादा टूट जाए।

धनस्य पुरुपार्थेन,
विरोधो नास्ति कश्चन ।
वर्धते पुरुपार्थेन,
धनमित्याह शिक्षकः ॥११॥

शिक्षक ने कहा—पुरुपार्थ के साथ धन का कोई विरोध नही है। वह पुरुपार्थ से ही वढता है।

पुण्यवन्तो जना अत्र,
सुखभोग प्रकुर्वताम् ।
पुण्यहीना जना अत्र,
कार्यं कुर्वन्तु सन्ततम् ॥१२॥

विधेर्विधानमेतत्तु,
न निवार्यं कथञ्चन ।

अनेन नियमेनैव,
शासित विद्यते जगत् ॥१३॥

विद्यार्थी बोले—अध्यापक-प्रवर ! इस दुनिया मे जो लोग भाग्यशाली हैं, वे सुखभोग करें और जो पुण्यहीन हैं, वे सदा काम करें। यह विधि का विधान है, इसे कोई टाल नही सकता। इसी विधि-विधान से सारा जगत् शासित हो रहा है।

अधुना श्रमिकै राज्य,
क्रियते जगतीतले।
पुण्यापुण्यस्य चर्चैषा,
पुराणाभूद् गतादरा ॥१४॥

अध्यापक ने कहा—आज दुनिया के अचलो मे श्रमिक लोग राज्य कर रहे हैं। अब इस प्रकार के पुण्य और पाप की चर्चा बहुत पुरानी पड गई है। उसके प्रति अब वह आदर-भावना नही रही है, जो पहले थी।

नास्ति कि वस्तुत पुण्य,
पापञ्चापि किमस्ति नो।
यदि स्तस्ते तदा कि न,
फल भावि तयोरिह ? ॥१५॥

विद्यार्थी बोले—क्या वास्तव म पुण्य और पाप कुछ भी नही हैं ? और यदि हैं तो उनका फल कैसे नही होगा ?

नाह वच्मि न वा पुण्य,
न पाप विद्यते भुवि।
पुण्यपापे मतिर्यास्ति,
समीचीना न चास्ति सा ॥१६॥

अध्यापक ने कहा—मैं यह नही कहता कि पुण्य और पाप नही हैं। मैं यह कहना चाहता हू कि उनके बारे में जो धारणा है, वह सही नहीं है।

(वि० २०२१ दिल्ली)

१७ : आत्मतुला

कषाया दैहिका दोषा,
जायन्ते बहवो नृणाम् ।
रक्तचापश्च हृद्‌रोग,
उदरव्रणकादय ॥१॥

प्राणियो के रक्तचाप, हृदयरोग, उदरव्रण आदि अनेक शारीरिक रोग कषायो के कारण उत्पन्न होते हैं।

तोलयत स्वतुलया,
मिमीध्व निजमानत ।
मा भवथ क्रीडनक,
परहस्तप्रताडितम् ॥२॥

अपने आपको अपनी तुला से तोलो और अपने माप से मापो। मनुष्यो ! तुम दूसरो के हाथ के खिलौने मत बनो।

शठे शाठ्यं समाचर्य,
स्वय दु ख समर्जितम् ।
न दु खी जायते शत्रु,
दु ख प्राप्नोति स स्वयम् ॥३॥

शठता के प्रति शठता का आचरण कर व्यक्ति स्वय दु ख का अर्जन करता है। उसका प्रतिपक्षी दु खी नही होता, किन्तु वह स्वय दु ख पाता है।

आत्मभ्रान्तिर्न मे भूयात्,
सुख स्यान्नसुखभ्रमः ।

कण्डूयन कृत सौख्य,
माधुर्यं निम्बके कुत ॥४॥

मुझे आत्मभ्रान्ति न हो। सुख हो, सुख का भ्रम न हो। खाज मे सुख कहा ? नीम मे मधुरता कहा ?

पात्रशिष्य पाठनीयोऽ-
पात्रे विद्या भयकरी।
पात्रापात्रविवेकोऽद्य,
साम्प्रत नैव विद्यते ॥५॥

जो शिक्षा के योग्य है, वह अध्ययन के लिए पात्र है। उसकी शिक्षा फलवती होती है। अपात्र को दी गई शिक्षा भयकर होती है। किन्तु आज के विश्व मे पात्र और अपात्र का विवेक मान्य नही है।

१८ : कथाश्लोका:

पूर्वमान्यतया ग्रस्तो, न सत्य लभते जन.
मुखे लवणमापन्ना, पिपीलिकेव शर्कराम् ॥१॥

एक चीटी अपने मुंह मे लवण का कण लेकर शक्कर के ढेर पर रहनेवाली चीटी के पास गई। उसने उसका स्वागत किया। वह बोली—'मेरा मुह नितान्त खारा रहता है।' उसने कहा—'लो, यह चीनी खा लो।' उसने चीनी का कण मुह मे लिया, फिर भी उसका मुह खारा ही रहा, क्योकि उसके मुह मे पहले से ही नमक का कण मौजूद था। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपनी पूर्व-मान्यता से ग्रस्त है, वह कभी सत्य को नही पा सकता। जब वह अपनी पूर्व-मान्यता को छोड देता है, तब ही वह सत्य तक पहुच सकता है।

न्यूनते द्वे गृहस्य स्त, एकस्मिन् दिवसे ध्रुवम्।
एतद् विनक्ष्यति स्वामिन्!, कर्त्ता चापि विनक्ष्यति ॥२॥

एक धनी व्यक्ति ने बहुमंजिला मकान बनवाया। सारे नगर मे प्रशसा होने लगी। वह प्रत्येक व्यक्ति से यह पूछता कि मेरे इस मकान मे क्या कमी है। सभी उसकी भूरि-भूरि प्रशसा कर चले जाते। एक दिन एक सन्यासी वहा आया। सेठ ने उसे अपना नव-निर्मित मकान दिखाकर पूछा—'महात्मन्! इस मकान मे कोई कमी तो नही है?' सन्यासी ने कहा—'सेठ! मुझे इसमे दो कमिया दीख रही हैं।' सेठ का मन उदास हो गया। उसने अन्यमनस्कता से पूछा—'वे दो कमिया कौन-सी हैं? मैं उन्हे भी पूरा करु गा। मेरे पास न धन की कमी है, न कारीगरो की कमी है। आप बताए।' सन्यासी ने कहा—'पहली कमी तो यह है कि यह नवनिर्मित भवन एक दिन अवश्य ही नष्ट हो जाएगा और दूसरी कमी यह है कि इसको बनाने वाला भी अमर नही रहेगा, एक दिन मर जाएगा।' सेठ ने यह सुना और वह आकाश की ओर देखता रहा गया।

महात्मैकेन स पृष्ट, जागर्सि ते भय कुत ?
तेनोक्तमान्तर शत्रु, भय जनयति सदा ॥३॥

आधी रात बीत चुकी थी। आश्रम का समूचा वातावरण नीरव और शान्त था। अपनी कुटिया मे एक महात्मा जाग रहे थे। एक व्यक्ति महात्मा के पास गया। चरण छूकर उसने पूछा—'भगवन् ! आप जागते क्यो हैं ? आपको किस चीज का भय है ? न आपके पास धन है और न कोई वस्तु। फिर भय कैसा ?' महात्मा ने कहा—'वत्स ! बाहरी शत्रुओ का मुझे कोई भय नही है। मेरे आन्तरिक शत्रु—क्रोध, लोभ, राग, द्वेप, मोह आदि-आदि मेरे मे सदा भय उत्पन्न करते रहते हैं। इसलिए मुझे जागना पडता है।' प्रश्नकर्त्ता का मन समाहित हो गया।

एक एव भवेदात्मा, सर्वेष्वपि हि प्राणिषु ।
खादन्ती गौर्न वा रुद्धा, पुत्र पित्रा निवारित ॥४॥

पिता अपने पुत्र को साथ लेकर प्रवचन सुनने गया। प्रवचन मे अद्वैत का प्रकरण चल रहा था। प्रवचनकार ने कहा—'सभी प्राणियो मे एक ही आत्मा है। वे सब ब्रह्म-स्वरूप हैं।' प्रवचन सम्पन्न हुआ। पिता घर चला गया और पुत्र दुकान पर आ बैठा। किराने की दुकान थी। बाहर धान बिखरा पडा था। एक गाय आयी। वह धान खाने लगी। लडका देखता रहा। इतने मे ही पिता भी घर से आ गया। उसने सारी स्थिति देखी। गाय को धान खाते देख वह उबल पडा। उसने पुत्र को उपालभ देते हुए कहा—'अरे ! क्या तू गाय को नही हटा सकता ? इस प्रकार से तो सारा धन्धा ही चौपट हो जाएगा।' लडके ने कहा—'पिताजी ! 'गाय की आत्मा और हमारी आत्मा मे अतर ही क्या है ? दोनो एक हैं। सब ब्रह्मरूप हैं।' पिता ने सुना और वह अवाक् रह गया। उसने कहा—'पुत्र ! प्रवचन की बात को व्यवहार मे लाना अत्यन्त कठिन है।'

पित ! घटा विपच्यन्ते, वृष्टिर्न स्यादितीष्यते ।
पित ! उप्तानि बीजानि, वृष्टिर्भवेदितीष्यते ॥५॥

एक कुभकार था। उसके दो पुत्रिया थी। दोनो का विवाह हो चुका था। एक बार वह उनसे मिलने गया। पहली पुत्री के घर पहुचा। पुत्री ने पिता को प्रणाम किया। पिता ने कुशल-क्षेम पूछा। पुत्री ने कहा—'और तो सब ठीक है। घडो का कजावा तैयार है। यदि कुछ दिन वर्षा न आए तो अच्छा रहे।'

पिता दूसरी पुत्री के घर पहुचा। पुत्री को कुशल-क्षेम पूछने पर उसने कहा—'पिताजी ! अभी-अभी हमने खेतो मे बीज बोए हैं। अभी वर्षा हो तो

अच्छा रहे। यदि वर्षा न हुई तो सारे बीज नष्ट हो जाएगे।'

पिता ने सुना और सोचा कि दोनो पुत्रियो के हित भिन्न-भिन्न हैं।

कष्टकाले विचारो य , स सुखे परिवर्तिते।
यम प्रयुक्तवान् वृद्धो, भारमुत्थापितु स्मृत ॥६॥

विपत्तिकाल मे जो विचार होते हैं, वे विपत्ति के दूर होने पर परिवर्तित हो जाते हैं। एक वृद्ध सिर पर लकडी का भार लिये जा रहा था। रास्ता लम्बा था। वह थक गया। अभी गाव दूर था। वह भार को नीचे रख बैठ गया। दु ख के मारे वह मृत्यु को बार-बार याद कर रहा था—'अरे ! मुझे मौत क्यो नही उठा ले जाती ?' इतने मे यमराज उसके सामने आ खडा हुआ। वृद्ध ने पूछा—'आप कौन हैं ?' 'मैं यमराज हू। तूने मुझे याद किया था। इसलिए आया हू।' वृद्ध मौत के भय से कापने लगा। उसने कहा—'मैंने तो आपको भार उठवाने के लिए याद किया था। कृपा कर आप लकडी के इस गट्ठर को मेरे सिर पर रख दें।'

स्त्रीद्वयारोपमाधाय, श्वा क्षुधाकुलितो मृत ।
मोहमूढो नृपो मृत्यु, प्राप्त खादन्निहाम्रकम् ॥७॥

१ एक धोबी के दो स्त्रिया थी। उसके पास एक कुत्ता भी था। उसका नाम था 'सतावा'। उसे प्राय भूखो मरना पडता था। दोनो उसे रोटी नही देती थी। किन्तु जब वे दोनो स्त्रिया परस्पर कलह करती तब एक-दूसरे को 'सतावे की नार' कहती थी। कुत्ते को इससे सतोष होता था। वह इसी सतोष मे भूख से व्याकुल होकर मर गया।

२ एक राजा आम्र का शौकीन था। उसे बीमारी हो गई। वैद्य ने आम खाने की मनाही की। राजा मान गया। एक दिन वह शिकार के लिए गया। चिलचिलाती धूप मे घोडे पर दूर तक चला गया। विश्राम करने के लिए वह एक सघन आम वृक्ष के नीचे बैठा। आम की मीठी-मीठी सुगध आने लगी। मन ललचाया। हवा के झोके के साथ एक आम नीचे आ गिरा। वैद्य के कथन की अवहेलना कर उसने आम चूस लिया। बीमारी पुन तेज हो गई। राजा मर गया।

जो व्यक्ति मूढ होता है, आसक्त होता है, वह इसी प्रकार मृत्यु का वरण करता है।

द्वितीयो विभागः

आशुकवित्वम्

प्रदत्तविषयानुबद्धम्

१ : एकता

रथ्याकूले पार्श्वयोर्भिन्नमूला,
वृक्षा व्योम्नि प्रेमलग्ना विभान्ति ।
छाया जाता सर्वतो व्यापिनी तद्,
भिन्ने मूलेप्येकता श्लाघनीया ।।

मार्ग के दोनो पार्श्व मे वृक्ष लगे हुए थे। उनके मूल पृथक्-पृथक् होने पर भी वे आकाश मे प्रेम से मिल रहे थे। उनकी छाया चारो ओर फैल रही थी। मूल के भिन्न होने पर भी एकता श्लाघनीय होती है।

(जोवनेर—२००६ मृग० कृ० ७)

२ : ताजमहल

रक्तोपला शिल्पिरुषा प्रतीका,
अद्याऽपि शान्ति न गता इवाह ।
वहिःप्रदेशे विशतेति बुद्ध-
मेष्वस्ति नून हृदयानुभूति ।।१।।

ताजमहल के वाहर ये लाल पत्थर शिल्पियो के क्रोध के प्रतीक हैं, जो आज भी शान्त हुए प्रतीत नही होते।

अन्तर्गतस्ताजमहालयस्य,
वलक्षतामैक्षिषि भव्यभित्ते ।
अरेऽट्टहासोऽस्ति विलासिवुद्धे-
र्यत्कारितो ही स्वयमेव राज्ञा ।।२।।

मैंने ताजमहल के भीतर सुन्दर भित्ति की धवलिमा देखी। पर वास्तव मे वह धवलिमा नही थी। वह तो स्वय सम्राट् (शाहजहा) द्वारा कृत अपनी विलासितापूर्ण बुद्धि का अट्टहास मात्र था।

सलाघवे पाणिघपाणिभङ्गे,
नि श्वासवातेन कलिन्दकन्या।
श्यामा बभूवेति तदूर्ध्वभागे,
गतेन नीर दधता व्यलोकि॥३॥

कुशल शिल्पियो के हाथो के काटे जाने पर उनकी नि श्वास वायु से यमुना का जल श्यामल हो गया। ताजमहल के उर्ध्वभाग मे जाने पर यमुना के जल को अपनी आखो मे धारण करते हुए मैंने यह देखा।

(आगरा—वि० सं० २००६ चैत्र कृ० १२-१३)

३ : त्रिचक्षु

श्रद्धा पुरस्कृत्य गतिं करोमि,
बुद्धि पुरस्कृत्य विचारयामि।
आत्मानुभूत्या विदधामि साक्षात्,
त्रिचक्षुरेव भगवन्! भवेयम्॥

श्रद्धा को पुरस्कृत कर गति करता रहू, बुद्धि को पुरस्कृत कर विचार करता रहू और आत्मानुभूति से साक्षात्कार करता रहू—प्रभो! इस प्रकार मैं त्रिचक्षु हो जाऊ।

४ : गंगानहर

रंगत्तरंगा किमु नाम गंगा,
नो नो तदुत्था सलिलप्रणाली।
भगीरथ कोऽपि किमत्र जातो,
न ज्ञायते तेऽद्य युगे कियन्त ।।१।।

उत्ताल तरंगो वाली गंगानहर को देखकर मन में यह प्रश्न उभरा कि क्या यह गंगा नदी है ? नहीं, यह तो उससे निकली हुई नहर है। फिर प्रश्न हुआ कि क्या कोई भगीरथ उत्पन्न हुआ है जो इसको ले आया है ? न जाने आज इस युग मे कितने भगीरथ विद्यमान हैं।

कल्लोलमालाकुलिताभिरद्भि,
द्वारप्रदेशे पतिताभिरुच्चै ।
सघर्षशीलाभिगता सवस्त्रा,
विचित्रवेशा किल नर्तकीव ।।२।।

वह नहर ऊर्मिमाला से आकुलित तथा ऊपर से दरवाजे तक गिरते हुए पानी के साथ जूझ रही थी। वह आगे फेनिल वस्त्र पहन कर वढती हुई नहर विचित्र वेशवाली नर्तकी जैसी लग रही थी।

घोपोऽतुलस्तद् विपुल शरीर,
प्रकपित सूचयतीति सत्यम् ।
अस्मिन् युगे जल्पति य स एव,
मुख्योऽम्बुनापि प्रतिवुद्धमेतत् ।।३।।

उसका अतुल घोप और प्रकपित विपुल शरीर इस सत्य की सूचना दे रहा है कि इस युग मे जो बोलता है वही मुख्य होता है। पानी ने भी इस रहस्य को समझ लिया था।

निम्न गत वारि करोत्यनिम्न,
पृष्ठागत वार्यऽपर स्ववेगात् ।
ऊर्ध्वंदम याति पुनश्च निम्न-
मुद्धारयेत् क खलु निम्नवृत्तिम् ।।४।।

पीछे से आया हुआ पानी अपने वेग से पहले के पानी को ऊपर की ओर ढकेल देता है। ऊपर गया हुआ पानी फिर नीचे चला जाता है। जो निम्नवृत्ति होता है—जिसका स्वभाव नीचे की ओर जाने का होता है उसका उद्धार कौन कर सकता है ?

रोमोद्गम द्रष्टुरिह प्रकृत्या,
बिन्दूद्गमो वृद्धिमवाप्तुकाम ।
वातेरितो व्योमविहारहारी,
स्प्रष्टु समस्तान् पथिकान् विलोलः ।।५।।

ऊपर से गिरती हुई धारा के जलकण बढने को ललचा रहे थे। देखने वालो को ऐसा लग रहा था कि मानो प्रकृति को रोमाच हो आया है। वे जलकण हवा से आकाश मे उछल रहे थे और पथिको को छूने के लिए आकुल हो रहे थे।

५ : आवर्त

आवर्त एकः पयसा विभाति,
भ्राम्यन् स्वय भ्रामयतेऽप्यशेषान् ।
स्वसीम्नि यातान्नयतेऽपि निम्न,
यच्चञ्चलाना रचित विचित्रम् ।।१।।

एक आवर्त पानी का होता है। वह स्वय घूमते हुए सभी को घुमाता है। वह अपनी सीमा मे आए हुए पदार्थ को नीचे ले जाता है। चचल पदार्थ की प्रवृत्ति विचित्र होती है।

आवर्तमाना नयते तथोर्ध्वं,
सोपानवीथी मनुजान् क्रमेण ।
लक्ष्य स्थिर प्राप्य जनस्तदन्त,
गच्छेद् गति य कुरुते तदर्हाम् ।।२।।

दूसरा आवर्त घूमती हुई सोपानवीथि का है। वह मनुष्यो को ऊपर ले जाती

है। जो मनुष्य उसके साथ-साथ घूमता है वह अपने स्थिर लक्ष्य को पाकर, उससे छुटकारा पा लेता है।

तृतीय एषोस्ति च भावनाया,
ऊर्ध्वंगत कर्षति लोकमुच्चै ।
स्वभाव ऊर्ध्वंगमिनामसौ हि,
निम्नान् जनानुन्नयते स्वतोऽपि ॥३॥

तीसरा आवर्त होता है भावना का। ऊची भावना का आवर्त मनुष्यो को ऊचा ले जाता है। ऊपर जाने वालो का यही स्वभाव होता है कि वे स्वय ऊपर जाते हुए दूसरे मनुष्यो को भी ऊपर ले जाते हैं।

[वि० स० २०११ बम्बई चातुर्मास—अमेरिकन राइटर वुडलेण्ड केलर द्वारा प्रदत्त विषय—Revolving Stairs (आवर्त)]

६ : विद्वत्सभा

डॉ० के० एन० वाटवे, एम० ए० पी-एच० डी०, सस्कृत विभागाध्यक्ष, एस० पी० कॉलिज, पूना, ने आशुकवित्व के लिए विषय देते हुए यह श्लोक कहा—

मिलिता पण्डिता सर्वे,
काव्यस्य श्रवणेच्छया ।
अतो हि काव्यमाश्रित्य,
वर्ण्यता विदुषा सभा ॥

सभी पडित काव्य सुनने की इच्छा से यहा एकत्रित हुए हैं। इसलिए आप (मुनिश्री) 'विद्वत्सभा' इस विषय पर आशुकवित्व करें।

विषयपूर्ति—

स्वातन्त्र्य यज्जन्मसिद्धोऽधिकार,
येषा नाद सर्वथा श्रूयमाण ।

तेषा नाम्ना मदिर विद्यमान,
विद्वद्वर्या अत्र सर्वे प्रभूता ॥१॥

जिस महामनीषि ने यह नारा दिया था कि 'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' और जो नाद आज सर्वत्र गूज रहा है, उनकी नाम-स्मृति मे यह 'तिलक-विद्यापीठ' बना है। आज सभी पडित यहा उपस्थित हैं।

विलोक्य सर्वान् विदुष प्रमोदे,
विराजमाना गुरवो ममात।
इतो विराजन्ति मुमुक्षवोऽमी,
साहित्यपाण्डित्यकलाप्रपूर्णा ॥२॥

मैं विद्वानो को देखकर परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हू। एक ओर मेरे गुरुदेव आचार्य तुलसी विराजमान हैं और इधर साहित्य के विद्वान् और कला मे निपुण ये मुमुक्षु बैठे हुए हैं।

ये ये विचारा मनसोद्भवन्ति,
ज्ञातास्तथा ज्ञाततमा लसन्ति।
आविष्करोमि प्रमनाश्च तॉस्तान्,
ज्ञेय ससीम समयो ममास्ति ॥३॥

जो विचार मन मे उत्पन्न हो रहे हैं, वे ज्ञात और सुज्ञात हैं। फिर भी मैं प्रसन्न-मन से उन्हे अभिव्यक्त करता हू। मेरे बोलने का समय ससीम है, यह सब जान लें।

नाह क्वचित् काश्चन वेद्मि विज्ञान्,
न तेऽपि जानन्तितमा च मा च।
पूर्वोऽयमेवास्ति समागमोऽत्र,
पर प्रमोदोऽस्ति महान् समन्तात् ॥४॥

यहा उपस्थित किसी विद्वान् को मैं नही जानता और न कोई विद्वान् मुझे पहचानता है। यह हमारा पहला ही समागम है, फिर भी चारो ओर हर्ष का वातावरण है।

येषा विचाराः प्रकृतिप्रसन्ना,
सद्भावना स्फूर्तिमती विभाति।

श्रोतु विचारान् यतिना वरेण्यान्,
समागतास्तान्न विदन् प्रवेद्मि ॥५॥

जिनके विचार स्वभावत निर्मल और स्पष्ट हैं, जिनकी सद्भावना स्फूर्तिमती है, जो मुनियो के वरेण्य विचार सुनने के लिए समागत हैं, उन्हे न जानता हुआ भी अच्छी तरह से जानता हू।

प्रमोदराशिर्नयने निमग्नो,
विलोक्यते तत्त्वमिद महत्तत्।
अप्रेम्णि ये प्रेम सभाजयन्ति,
ते पण्डिता एव न सशयोऽत्र ॥६॥

सब की आखो मे प्रमोद भरा हुआ दीखता है, यह यहा की मुख्य बात है। जो व्यक्ति अप्रेम मे भी प्रेम का प्रभुत्व स्थापित करते हैं, वे सब पडित होते हैं, इसमे कोई भी सशय नही है।

नाज्ञेषु शान्ति स्थिरताप्रसक्ति,
शान्ता स्थिरा सन्ति समे यदेते।
विद्वत्सभेय लसतेऽत्र रम्या,
सर्वेऽपि विद्वास इति ब्रवीमि ॥७॥

अज्ञ व्यक्तियो मे शान्ति और स्थिरता नही होती। यहा शाति और स्थिरता दोनो हैं, अत यह विद्वत्-सभा अत्यन्त रमणीय है और यहा उपस्थित सभी व्यक्ति विद्वान हैं, ऐसा मैं कहता हू।

(तिलक विद्यापीठ, पूना, २६-२-५५)

७ : घटीयन्त्रम्

वाग्वर्धिनी सभा, पूना—वि० स० २०११ फाल्गुन शुक्ला ६ (२६-२-५५) डॉ० के० एन० वाटवे, एम० ए०, पी-एच० डी० ने आशुकवित्व के लिए विषय देते हुए निम्न श्लोक कहा—

समयज्ञापक नित्य,
नव्याना हस्तभूषणम् ।
स्रग्धरावृत्तमालम्ब्य,
घटीयन्त्र हि वर्ण्यताम् ।।

'जो सदा समय बताती है, जो नौजवानो के हाथ का आभूषण वनी हुई है, उस घडी का स्रग्धरा छद मे वर्णन करें।'

विषयपूर्ति—

यद्वा ज्ञात पुराणैर्निखिलऋषिवरैर्व्योमवीक्ष्यापि काल,
ज्ञाता तज्ज्ञायते वा प्रकृतिविवशता साम्प्रतं वर्धमाना।
स्वातन्त्र्यस्य प्रणादो वहुजनमुखग किन्तु नो कार्यरूपे,
हस्ते बध्वा घटीस्ता भवति च मनुजश्चित्रमासामधीन ।।१।।

प्राचीन ऋषि-मुनियो ने आकाश को देखकर काल का ज्ञान किया था। किन्तु आज वढती हुई प्रकृति की विवशता स्वय ज्ञात है या ज्ञात हो सकती है। वर्तमान मे स्वतन्त्रता का स्वर जन-जन के मुख पर है, किन्तु वह कार्यरूप मे परिणत नही है। आश्चर्य है कि मनुष्य हाथ पर घडी बाधकर, उसके अधीन हो रहा है।

चक्षूर्यद् वान्तरालं स्फुरितमपि भवेत्तन्न यन्त्रस्य चेष्टा,
विज्ञाः पश्यन्तु सर्वे वयमिह मुनय कस्य हस्तेऽस्ति यन्त्रम् ?
चक्षुष्मानत्र बुद्धो भरतजनपदे स्वात्मना स्व प्रपश्येत्,
बाह्ये दृष्टि वितन्वन् वहिरपि सुदृश ! स्यात्पराधीनचेता ।।२।।

अन्तराल का चक्षु खुलजाता है, वह कोई यन्त्र की चेष्टा नही मानी जाती। सारे विद्वान् यह देखें कि हम मुनियो के हाथ मे कौन-सा यन्त्र है ? भारत मे उसे ही चक्षुष्मान् माना है जो अपनी आत्मा से अपने आपको देखता है। चक्षुष्मान् विद्वानो ! बाहर की ओर झाकने वाले का चित्त बाह्य वस्तुओ के अधीन हो जाता है।

लोकोऽय नाम चित्रो भवति च सतत नात्र सन्देहलेश,
श्रृङ्गारार्थं प्रयत्नो भवति नवनवो ज्ञातमेतत् प्रसिद्धम्।
स्त्रीणा हस्ते हि दृष्टा भवति च मनुजे साप्यलकाररीति,
घट्या व्याजेन लब्धा व्रजति च किमसौ साम्प्रत स्त्रित्वमेतुम्।।३।।

इसमे कोई सन्देह का अश भी नही है कि यह मनुष्य बहुत विचित्र है। यहा शृगार के लिए नए-नए प्रयत्न होते हैं— यह सबको ज्ञात है। स्त्रियो के हाथ शृगारित होते हैं, किन्तु मनुष्यो ने भी घडी के मिष से हाथ को अलकृत किया है। इससे यह आशका होती है कि क्या मनुष्य स्त्रीत्व की ओर जा रहा है ?

लोकोऽय जायमानो नहि नहि विदुषा विस्मय कोपि कार्य,
स्त्रीत्वे पुस्त्व कदाचिद् भवति दृशिगत पुस्त्वमेवापि तत्त्वे।
कालोऽसीमो विभाति प्रकृतिविलसितो यद्रुचिश्चापि चित्रा,
बुद्धेर्भेदोऽपि जातस्तदघटितघटा मन्यतामत्र सत्या ॥४॥

'स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री बनना'—यह होता है। इसमे किसी विद्वान् को विस्मित नही होना चाहिए। काल असीम है। यह प्राकृतिक है। लोगो की रुचि भी भिन्न-भिन्न है। बुद्धि का तारतम्य भी है, इसलिए किसी भी अघटित घटना को सत्य माना जा सकता है।

८ : सस्कृतभाषाया विरोध:

डॉ० के० एन० वाटवे, एम० ए० पी-एच० डी०, सस्कृत विभागाध्यक्ष, एस० पी० कॉलेज, पूना, ने आशुकवित्व के लिए विषय देते हुए यह श्लोक कहा—

यच्च सस्कृतभाषाया, विरोधो दृश्यते क्वचित्।
तमेवाश्रित्य विषय, काव्यमत्र विरच्यताम् ॥

'कही-कही सस्कृत भाषा का विरोध किया जाता है। मुने ! आप इसी विषय को आधार बनाकर काव्य-रचना करें।'

विषयपूर्ति—

यस्या महत्तत्वमहो विभाति,
स्वाध्यात्मिकी येन गति प्रवृद्धा।
विकासमार्गो विशदो यत स्यात्,
तथापि लोकै क्रियते विरोध ॥१॥

जिस भाषा के साहित्य मे महान् तत्त्व हैं, जिसने अपनी आध्यात्मिक गति को वेग दिया है, जिसके आश्रयण से विकास-मार्ग विशद हो जाता है, फिर भी लोग उसका विरोध करते हैं।

तत्रापि तथ्य वरिवर्ति किञ्चित्,
न सस्कृतस्यास्ति मुधा विरोध ।
यत् सस्कृतज्ञा हि पुराणचित्ता,
तद् यत्र तत्राग्रहमाश्रयन्ति ॥२॥

उनके विरोध मे भी कुछ तथ्य है। वे सस्कृत का व्यर्थ ही विरोध नही करते। सस्कृतज्ञ व्यक्ति पुराने विचारो के होते हैं। वे यत्र-तत्र आग्रह कर बैठते हैं।

सार यथा नाम पुरातनेषु,
तथा नवीनेष्वपि गृह्यते चेत्।
भाषाविरोध स्वयमेव नाश,
नून नयेन्नात्र विमर्शणीयम् ॥३॥

जिस प्रकार प्राचीनता मे सारतत्त्व है वैसे ही यदि नवीनता मे सारतत्त्व मान लिया जाए तो भाषा का विरोध स्वय नष्ट हो जाता है। इसमे कुछ भी विचारणीय नही है।

सर्वत्र तत्त्वस्य भवेद् विरोध,
तत्र प्रमोदो विदुषा हि मान्य ।
विरोधतस्तत्त्वमुपासनीय,
न नाम भीतिश्च ततो विधेया ॥४॥

जहा सत् तत्त्व का विरोध होता है, वहा विद्वान् व्यक्ति प्रमुदित होते हैं। क्योकि विरोध से तत्त्व के प्रति उपासना बढती है। वहा भय नही खाना चाहिए।

(तिलक विद्यापीठ, पूना—२६-२-५५)

९ : मृतभाषा

वाग्वर्धिनी सभा, पूना—वि० स० २०११ फाल्गुन शुक्ला ६ आर० एम० धर्माधिकारी द्वारा प्रदत्त विषय—

"भाषा मृतेति प्रवदन्ति केचिद्,
गीर्वाणवाणी गुणभूषिताऽपि।
मुनीन्द्र! तत्त्व कथयस्व नून,
कथ पुनर्वैभवशालिनी स्यात् ॥"

'गीर्वाणवाणी (सस्कृत भाषा) गुणो से भूषित है। फिर भी कुछेक व्यक्ति उसे मृत भाषा मानते हैं। मुनीन्द्र! आप यह बताए कि वह भाषा पुन वैभवशालिनी कैसे हो?'

विषयपूर्ति—

भाषा कदाचिन्न मृताऽमृता स्याद्,
भाषाज्ञ एवापि मृतोऽमृत स्यात्।
भाषामुपादाय जनाश्चलन्ति,
तेषा गति स्याच्च समीक्षणीया ॥१॥

भाषा कभी भी मृत या अ-मृत नही होती। भाषाविद् ही मृत या अ-मृत होता है। लोग भाषा को लेकर चलते हैं। उनकी गति ही समीक्षणीय है।

भाषाविदा जीवनमस्ति नव्य,
भाषा स्वय स्फूर्तिमियर्ति नव्याम्।
भाषाविदा चेज्जडता प्रसूता,
भाषाऽपि मृत्यु लभते तदत्र ॥२॥

भाषाविदो का जीवन यदि नया होता है तो भाषा भी नयी स्फूर्ति को प्राप्त होती है। यदि भाषाविदो का जीवन जड होता है तो भाषा मर जाती है।

भाषाविकास स्पृहयन्ति ये ये,
ते ते सचेष्टा सरसा भवन्तु।
भाषाविदा वृद्धिगते महिम्नि,
भाषा स्वय गौरवशालिनी स्यात् ॥३॥

जो-जो व्यक्ति भाषा का विकास चाहते हैं, वे सरस और सचेष्ट हो। भाषा-विदो की महिमा बढने पर भाषा स्वय गौरवशालिनी हो जाएगी।

१० : क्रीडांगण

यस्मिन् क्रीडा यावती स्वल्परूपा,
तावत् क्रीडाप्रागण स्याद् विशालम्।
व्रीडा वृद्धि याति येन क्रमेण,
तेन क्रीडाप्राङ्गण याति सीमाम् ॥१॥

जिसमे लज्जा का भाव जितना कम होता है, उतना ही विशाल होता है उसका क्रीडा-प्रागण। जिस क्रम से लज्जा बढती है उसी क्रम से क्रीडा-प्रागण सिकुडता जाता है।

क्रीडाङ्गण स्यादुदरञ्च मातु-
रङ्कोपि दोलापि तथा पराणि।
बालस्य सर्वाणि सदा समानि,
खलूरिकाखेलनमेव यूनाम् ॥२॥

बालक के लिए क्रीडा-प्रागण हैं—माता का उदर, माता की गोद, झूला आदि-आदि। ये सब उसके लिए सदा समान हैं। युवको का क्रीडा-प्रागण है—शस्त्राभ्यास की भूमि।

(वि० स० २०१२ मृगसर कृष्णा ६, बडनगर, हजारीबाग)

११ : संस्कृति

न वार्दलै क्षेत्रभिदा क्रियेत,
नभोविहार विदधद्भिरेभि।
एकत्वमेवाम्बुधरा भजन्ते,
तथैक्यमेवास्ति च सस्कृतीनाम् ॥१॥

आकाश मे विचरण करने वाले ये वादल कभी क्षेत्र का भेद नही करते। वे सर्वत्र एकता रखते हैं। इसी प्रकार सभी सस्कृतियो मे एकता है।

का भारतीया च परा च कास्ति,
दुर्लक्ष्य एपोस्ति निसर्गभेद ।
परन्तु धारा सलिलस्य वीक्षे,
तदाम्बुवाहा उपयान्ति भेदम् ॥२॥

कौन-सी सस्कृति भारतीय है और कौन-सी अभारतीय, यह भेद दुर्लक्ष्य है। किन्तु जव मैं जल की धारा को देखता हू, तव वादल भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

त्यागस्य निष्ठा प्रवरा प्रतीष्ठा,
यत्र व्रताना महिमा प्रकृष्ट ।
सा भारतीया किल सस्कृति स्याद्,
भिन्नाप्यभिन्नात्मगुणप्रकर्षे ॥३॥

जहा त्याग की प्रवर निष्ठा और प्रतिष्ठा है, जहा व्रतो की प्रचुर महिमा है, वह भारतीय सस्कृति है। वह भिन्न होती हुई भी आत्मगुणो के प्रकर्ष मे अभिन्न है।

(विक्रम सवत् २०१५, कानपुर—सस्कृत गोष्ठी)

१२ : त्रिवेणीसंगम

स्यात् सङ्गमोय हृदयङ्गमोपि,
तस्यैव यस्यास्ति मन पवित्रम् ।
प्रकाशशील च मलापहारि,
प्रक्षालक भावितवासनाया ॥१॥

जिसका मन पवित्र, प्रकाशवान, विशुद्ध और सस्कारो का प्रक्षालन करने वाला है, वही इस सगम को हृदयगम कर सकता है।

प्रकाशपुत्री यमुना तदस्ति,
प्रकाशपुत्र्या विहित विधेयम् ।
विलीनमस्तित्वमहत्त्वपूर्णं,
विधाय कार्यं विहित प्रकाश्यम् ॥२॥

यमुना प्रकाश की पुत्री है। प्रकाशपुत्री द्वारा जो कृत है वह सबके लिए करणीय है। उसने अपने अहता से पूर्ण अस्तित्व को विलीन कर प्रकाशोचित कार्य किया है।

व्योमापगा स्वर्गिनदी पवित्रा,
सप्राप्य पानीयविशालराशिम् ।
न खर्वगर्व वहते कदाचि-
त्तेनैव तस्याश्च समुच्छ्रयोयम् ॥३॥

पवित्र और निर्मल गगा नदी पानी की विशाल राशि पाकर भी कभी तुच्छ गर्व नही करती, इसीलिए उसे यह उच्चता प्राप्त हुई है।

भागीरथीय श्रमताप्रतीक,
परा प्रकाशप्रतिरूपभर्त्री ।
एकावदाताम्बुरिहास्ति पुण्या,
परा तथा श्यामलतामुपेता ॥४॥

गगा श्रम और यमुना प्रकाश की प्रतीक है, इसीलिए गगा का जल धवल और पवित्र है, किन्तु यमुना का जल श्यामल है।

स्यादेतयो सगम एष पुण्य-
स्तदा समाना सहजात्मलीना ।
समन्वय नैव नरा स्पृशन्ति,
तत्रास्ति चिन्त्य च महद् विचित्रम् ॥५॥

जब इन दोनो का सगम हो सकता है तो समानधर्मा और स्वभावत आत्मा मे लीन रहने वाले मनुष्य समन्वय क्यो नही कर पाते ? यह अत्यन्त आश्चर्यकारी और चिन्त्य तथ्य है।

आणुव्रतीय विशदास्ति गगा,
सरस्वती स्यादुपदेशवाणी ।

म्यात् सूर्यजाऽसौ हृदयप्रकाश-
स्तीर्थाधिराजस्तुलसीह जात ॥६॥

अणुव्रतो की पवित्र गगा प्रवहमान है, सरस्वती-रूपी उपदेशवाणी प्राप्त है तथा हृदय प्रकाशरूपी यह यमुना विद्यमान है। इन तीनो का समागम आचार्य-श्री तुलसी मे हुआ है। इसलिए वे तीर्थाधिराज प्रयाग हो गए।

(प्रयाग—त्रिवेणी-सगम, वि० स २०१५ मृग० कृ० १३)

१३ : हिसा-अहिसा

हिसाप्लुत मानसमस्ति सर्व,
कीटो मृतस्तत्र मन प्रहृष्ट ।
वीरत्वबुद्धिर्लभते प्रवृत्ति,
न नाम कष्टानुभवोस्ति किञ्चित्॥१॥

सारा मन हिसा से व्याप्त है। कोई कीट मरता है तो मन मे हर्ष होता है, और अपने आपमे वीरता की बुद्धि पैदा होती है। कष्ट का तनिक भी अनुभव नही होता।

मनोप्यहिसाविहित पवित्र,
कीटो मृतस्तत्र भवेत्स्वबुद्धि ।
नान्योऽसुमान् कोपि मृतोस्ति किन्तु,
ममैव कश्चिद् निजकोस्ति लुप्त ॥२॥

मन यदि अहिसा से पवित्र है, तो कोई कीट मरने पर उसके प्रति 'स्व' की बुद्धि पैदा होती है। वह सोचता है—कोई अन्य प्राणी नही मरा है किन्तु मेरा ही कोई स्वजन मरा है।

(हिन्दी विद्यापीठ—प्रयाग)

१४ : अणुत्वं कथं स्यात् ?

स्वाभाविकी स्यादणुता जनाना,
वैभाविकीय गुरुता विभाति ।
बन्धो जनाना विगतो यदा स्यान्,
मुक्त स्वय स्यादणुरेप आत्मा ।।१।।

प्राणियो के लिए अणुता स्वाभाविक है और गुरुता वैभाविक । जब प्राणी बन्धन-मुक्त हो जाता है, तव अणु आत्मा मुक्त हो जाती है ।

लघु सदा स्यादणुरत्र लोके,
विनम्र एवापि लघुर्भवेच्च ।
विनम्र एव प्रविशेद् मनस्सु,
न वा गुरो स्यात् सुलभोऽवकाश ।।२।।

अणु लघु होता है और जो विनम्र होता है वह भी लघु होता है । जो विनम्र होता है वही मन मे प्रवेश पा सकता है । गुरु (भारी) वहा स्थान नही पा सकता ।

गुरुत्वमेवाणुगत निसर्गे,
यद् वा गुरौ वाप्यणुता निविष्टा ।
न सर्वथा कोपि गुरुर्न वास्ति,
स्यात् सर्वथा सूक्ष्म इति प्रतीतम् ।।३।।

स्वाभाविक रूप से अणुता मे गुरुत्व है और गुरुत्व मे अणुता है । कोई सर्वथा गुरु अथवा सर्वथा अणु (सूक्ष्म) नही होता ।

(वि० स० २०१५ मृग० शु० २—झूसी आश्रम के अधिष्ठाता प्रभुदत्त ब्रह्मचारी द्वारा प्रदत्त विषय)

१५ : राष्ट्रसघ

एको बहुस्यामिति भावनाद्या,
सघप्रवृत्तिर्मनुजेषु जाता ।
वहुप्रकारा प्रचलन्ति सघा,
स्याद् राष्ट्रसघोऽपि महाश्च तत्र ॥१॥

'मैं अकेला हू,वहुत हो जाऊ'—यह भावना आदिकाल से रही । इसी भावना ने सघबद्धता को जन्म दिया । आज अनेक प्रकार के सघ विद्यमान हैं। उनमे 'राष्ट्रसघ' एक महान् सघ है।

राष्ट्राणि सर्वाणि च तत्र काञ्चित्,
प्राप्य स्थितिं वादमुदीरयन्ति ।
रक्षा निजस्याधिकृतेर्विधातु,
स्वातन्त्र्यमर्हन्ति गतावकाशा ॥२॥

सारे राष्ट्र वहा प्रतिनिधित्व प्राप्त कर कोई न कोई चिन्तन करते रहते हैं। अपनी प्रभुसत्ता की रक्षा करने के लिए सभी स्वतन्त्र हैं और उसके लिए सबको उचित अवसर प्राप्त है।

परन्तु तत्र स्थितिरस्ति चित्रा,
चीनस्य तुल्य सुमहच्च राष्ट्रम् ।
सदस्यता न व्रजति प्रतीत,
किं राष्ट्रसघोस्ति विडम्वना वा ॥३॥

किन्तु वहा की एक विचित्र स्थिति है। चीन जैसा विशाल राष्ट्र उसका सदस्य नही बन सका है । क्या यह राष्ट्रसघ है या कोई विडम्वना ?

यस्मिन् मनुष्या अपरैर्मनुष्यै-
र्घृणा विरोध च मिथो वहन्ते ।
स राष्ट्रसघो यदि साम्यधारा,
प्रवाहयेत् सार्थकतामुपेयात् ॥४॥

जहा मनुष्य दूसरे मनुष्यो के साथ घृणा और विरोध रखते हैं, वह राष्ट्रसघ यदि समता की धारा को प्रवाहित करे तो उसके नाम की सार्थकता सिद्ध होगी।

(वि० स० २०१५ मृग शु०-बनारस सस्कृत महाविद्यालय)

१६ : मिलन

अतीतमद्यास्ति विवर्तमान,
वाचोपि वाग्भिर्मिलिता भवन्ति।
रजास्यपि स्पर्शमुपागतानि,
मस्तिष्कमद्यास्ति हृदा सहैव ॥१॥

आज अतीत वर्तमान मे समा रहा है। वाणी वाणी से मिल रही है। यहा के रजकण भी आज स्पृष्ट हो रहे हैं और मस्तिष्क भी हृदय का साथ दे रहा है। इस मिलन की अपूर्ववेला मे सब परस्पर मिल रहे है।

(वि० स० २०१५ पोप शु० ६ राजगृह, वैभार पर्वत)

१७ : वैभार पर्वत और भगवान् महावीर

मिउभाव कठोरत्त,
किच्चा चिअ समन्निअ।
अभू परीसहेऽदीणो,
मिऊ सव्वेसु पाणिसु ॥१॥

भगवान् महावीर मृदुता और कठोरता—दोनो भावो से समन्वित थे। वे परीषहो को सहने मे कठोर—अदीन थे किन्तु सभी प्राणियो के प्रति मृदु थे।

अतिम देसण काउ,
साहिआ अतिमा गई।
अत किच्चा अणतो भू,
अयलो अक्खयो अजो ॥२॥

उन्होने अन्तिम देशना देकर, अन्तिम गति मोक्ष को प्राप्त कर लिया। वे भव का अन्त कर अनन्त, अचल, अक्षय और अजन्मा हो गए।

जस्स रम्माणि वक्काणि,
कुज्जा वक्कमवक्कग।
तेसिं णाम समुद्धारो,
कायव्वो सो कह भवे ॥३॥

जिनके सुरम्य वाक्य वक्र को भी अवक्र बना देते हैं। उन वाक्यो का उद्धार करना है। यह कैसे हो ?

पसारो उवदेसाण,
आयतुलप्पसाहिओ ।
भवे सो दिवसो धन्नो,
भविस्सइ भविस्सइ ॥४॥

वह दिन धन्य होगा, जिस दिन भगवान् के उपदेशो का आत्मतुला से प्रसाधित प्रसार होगा।

विगारा णिव्विगारत्त,
जत्थ जति य पाणिण।
को विगारो भवे तत्थ,
भूमी चेवाविगारिणी ॥५॥

जिस भूमि पर प्राणियो के विकार निर्विकार हो जाते हैं, वहा कौन-सा विकार उत्पन्न हो सकता है ? यह सारी भूमि ही अविकारी है।

१८ : सम्मेदशिखर

न वा स्वभाव परिवर्तित. स्यात्,
सुनिश्चित सत्यमिद ब्रवीमि।
वन विहायैव गता मनुष्याः,
वन श्रिता मोदमवाप्नुवन्ति ॥१॥

मैं यह सुनिश्चित कह सकता हू कि सत्य परिवर्तित नही होता। वन को छोड मनुष्य नगरो मे गए किन्तु आज पुन वन मे आकर प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं।

सदा ऋजुत्व पुरुषै प्रशस्त,
परन्तु वक्रत्वमपि क्वचित्स्यात्।
वक्रैश्च मार्गैर्वयमत्र याता,
पन्था ऋजुर्नैव सहायकोऽभूत् ॥२॥

मनुष्य ने सदा ऋजुता की प्रशसा की है, किन्तु कही-कही वक्रता भी प्रशस्त होती है। मार्ग वक्र थे इसीलिए हम यहा (पर्वत पर स्थित पार्श्वनाथ के मन्दिर) तक आ गए। ऋजु मार्ग (सीधा मार्ग) यहा पहुचने मे हमारा सहायक नही हुआ।

(वि० स० २०१६ मृग० शु० ६, सम्मेदशिखर पार्श्वनाथ मन्दिर)

१९ : दीपमालिका

यथा वय स्म. क्षणभङ्गुरा हि,
तथा जगत्सर्वमिद विभाव्यम्।
स्थायिप्रकाशाय सृजन्तु यत्न-
मिति प्रदीपा प्रकट ध्वनन्ति ॥१॥

दीपक यह स्पष्ट रूप से कह रहे हैं कि जिस प्रकार हम क्षणभगुर हैं, उसी प्रकार सारा जगत् भी क्षणभगुर है। इसलिए मनुष्यो को चाहिए कि वे स्थायी प्रकाश के लिए यत्न करें।

अहह चतुरचेता दीपमालामिषेण,
दिवसयति निशैव मास्म निन्दन्तु लोका ।
जगति भगवतोऽस्य वर्धमानस्य जातो,
विरह इह वसत्या भानुभायामसत्याम् ॥२॥

चतुर चित्तवाली रात्रि दीपमाला के मिष से अपने को दिन के रूप मे प्रदर्शित कर रही है, इसलिए कि लोग निन्दा न करें कि असाधारण व्यक्तित्व वाले भगवान् महावीर का विरह सूर्य की प्रभा के अभाव मे इस रात्रि मे हुआ है।

लोका न वक्रा स्थितिरप्यवक्रा,
कालोऽनुकूल सुखितो जनोऽपि।
देवार्यदेवावतरेस्तदातो,
भाग्योदयो वच्मि कले किमन्यत् ॥३॥

भगवन्! उस समय लोग भी वक्र नही थे और स्थिति भी वक्र नही थी। काल अनुकूल था और जनसाधारण सुखी। उस समय आपने अवतार लिया। इसे मैं कलिकाल का भाग्योदय ही कहू, और क्या कहू ?

श्रेयो यदेक मिलित तदानी,
यागस्य हिंसाप्रतिरोधनस्य।
कियन्ति तान्यद्ययुगे मिलिष्य-
न्नत्रानुमाया अपि नानुमा स्यात् ॥४॥

भगवन्! उस समय आपको यज्ञ की हिंसा के प्रतिरोध का एक ही श्रेय मिला था। किन्तु आज के युग मे आपको कितने श्रेय प्राप्त होते, इसके अनुमान का भी अनुमान नही हो सकता।

(वि० स० २०१८ बीदासर—दीपावली)

२० : नैतिकता-अनैतिकता

विलासबहुला वृत्ति-
रल्पायश्च बहुव्यय ।
अपेक्षा कृत्रिमा यत्र
तत्र नैतिकता कुत ? ॥१॥

जहा जीवनचर्या विलास से परिपूर्ण है, जहा आय कम और व्यय अधिक है और जहा आवश्यकताए कृत्रिम हैं, वहा नैतिकता कैसे होगी ?

सीमामासादितो भोग,
व्ययश्चायानुसारत. ।
अपेक्षा सीमिता यत्र,
तत्राऽनैतिकता कुत ? ॥२॥

जहा भोग-विलास की सीमा है, आय के अनुसार व्यय है और आवश्यकताए सीमित हैं, वहा अनैतिकता कैसे होगी ?

कर्त्तव्यविमुख यत्र,
राज्यतन्त्र प्रविद्यते ।
वणिजश्छलसयुक्ता
तत्र नैतिकता कुतः ? ॥३॥

जहा राज्यतन्त्र अपने कर्त्तव्य से विमुख है और जहा व्यापारी छल-कपट प्रधान हैं, वहा नैतिकता कैसे होगी ?

कर्त्तव्यप्रवण यत्र,
राज्यतन्त्र प्रविद्यते ।
वणिजो न्याय्यसतुष्टा,
तत्राऽनैतिकता कुत ? ॥४॥

जहा राज्यतन्त्र कर्त्तव्य-परायण है और व्यापारी औचित्य से प्राप्त सपदा से सतुष्ट हैं, वहा अनैतिकता कैसे होगी ?

(तीसहजारी—दिल्ली, वि० स० २०२१)

२१ : लोकतन्त्र का उदय

आत्मानुशासन यत्र,
प्रामाणिकत्वमाशये ।
सापेक्षता सहिष्णुत्व,
व्यक्ते स्वतन्त्रता स्फुटम् ॥१॥

तत्रोदय व्रजत्याशु,
लोकतन्त्रञ्च पुष्यति ।
फलान्यस्योपजायन्ते,
व्यवहारस्पृशामपि ॥२॥

जहा आत्मानुशासन, प्रामाणिकता, सापेक्षता, सहिष्णुता और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य है, वहा लोकतन्त्र का उदय और विकास होता है। लोकतन्त्र के फल व्यापारियो को भी प्राप्त होते हैं।

विधीना पालन तत्र,
कर्त्तव्यस्य प्रपालनम् ।
स्वयमुत्तरदायित्व,
विश्वासोऽपि परस्परम् ॥३॥

समानोवसर पुसा,
लब्धो भवति सादरम् ।
अन्यथा लोकतन्त्रस्य,
विच्छेदो जायते ध्रुवम् ॥४॥

लोकतन्त्र मे कानूनो का पालन, कर्तव्य-परायणता, स्वय का उत्तरदायित्व, परस्पर विश्वास, सभी मनुष्यो को समान अवसरो की प्राप्ति—ये आवश्यक होते हैं। अन्यथा लोकतन्त्र का निश्चित ही विच्छेद हो जाता है।

(दिल्ली कान्स्टीट्यूशन क्लब, वि० स० २०२१)

२२ : आत्मबोध

आलोकशून्या अपि सन्ति केचि-
दालोकभीता अपि सन्ति केचित् ।
आलोकमुग्धा अपि सन्ति केचि-
दालोकदक्षा विरला भवन्ति ॥१॥

कुछ पुरुष आलोक से शून्य, कुछ आलोक से भयभीत और कुछ आलोक से मूढ होते हैं। किन्तु आलोक मे निपुण पुरुष विरले ही होते हैं।

न चान्धकारो न च चाकचिक्य,
न सशयो नापि विपर्ययश्च ।
न चापि रोगो जनयेत्प्रभाव,
दृष्टि. प्रसन्ना मम सास्तु देव ! ॥२॥

देव ! मेरी दृष्टि प्रसन्न रहे। अन्धकार, चाकचिक्य सशय, विपर्यय और रोग—ये मेरी दृष्टि को प्रभावित न करें।

देहप्रसादो रसनाजयेन,
पूर्वाग्रह मुञ्चति दृक्प्रसाद ।
मन प्रसाद समताश्रयेण,
पुण्या त्रयीय भगवन् ! मयि स्यात् ॥३॥

भगवन् ! स्वादविजय से शारीरिक स्वास्थ्य, पूर्वाग्रह के त्याग से दृष्टि का स्वास्थ्य और समता के आचरण से मानसिक स्वास्थ्य—इन तीनो का पुण्य सगम मेरे मे हो।

प्रकाशरेखा भवतु प्रबुद्धा,
शक्ति प्रशस्ता भवतु प्रकर्षम् ।
आनन्दसिन्धुर्भवताद् गभीर
तव प्रसादान् मम देव ! देव ! ॥४॥

देव ! आपकी कृपा से मेरे प्रकाश की रेखा जागृत हो, शक्ति प्रशस्त हो और मेरा आनन्द का सिन्धु गहरा होता रहे।

दृष्टिर्न मुह्येत् प्रतिबिम्बमात्रे,
दृष्टिर्न मे संशयिता कदापि ।
विपर्ययं गच्छतु नैव दृष्टि-
र्दृष्टिं लभेऽह विशदां मुनीश ! ॥५॥

मुनीश ! प्रतिबिम्ब मात्र से मेरी दृष्टि मूढ न हो। मेरी दृष्टि मे सशय और विपर्यय भी न हो। देव ! मुझे पवित्र दृष्टि का लाभ हो।

विश्वास कुरुसे कुरुष्व चिदि त बाढ न वा विद्युति,
विश्वास कुरुसे कुरुष्व मनस शान्तौ न वा वार्दले ।
विश्वास कुरुसे कुरुष्व सुतरा हस्ते न वा वैभवे,
स्थैर्ये विश्वसन हित स्थिरतर तच्चञ्चले चञ्चलम् ॥६॥

यदि तू विश्वास करता है तो चैतन्य के प्रति गहरा विश्वास कर, विद्युत् के प्रति नही।

यदि तू विश्वास करता है तो मानसिक शाति के प्रति विश्वास कर, बादल के प्रति नही।

यदि तू विश्वास करता है तो सदा हाथ—श्रम मे विश्वास कर, वैभव के प्रति नहीं।

स्थैर्य में विश्वास करना हितकर और स्थिरतर होता है और चचल में किया गया विश्वास भी चचल होता है।

(वि० स० २०२२ अणुव्रत विहार, दिल्ली)

२३ : भावना

विराग सर्वदोषेभ्योऽ-
नुरागस्तव पादयो ।
निपात सर्वपापाना,
प्रणिपातस्तयो महान् ॥१॥

प्रभो ! मैं समस्त दोषो से विरक्त और आपके चरणो मे अनुरक्त हो जाऊ तथा मेरे सभी पाप नष्ट हो जाए और मैं आपके महान् चरण-युगल मे नत हो जाऊ।

मैत्र्यममित्रभावेषु,
मृदुता सकलेष्वपि।
अवक्तव्ये ध्रुव मौन-
माप्त स्यात्त्वत्प्रसादत.॥ २॥

प्रभो ! मैं आपकी कृपा से अमित्र भाव मे भी मैत्री, सभी जीवो के प्रति मृदुता और अवक्तव्य के प्रति मौन रहू।

(वि० स०—२०२३ दीपावली, बीदासर)

२४ : मणिशेखर चोर

सत्य गुणानामिह मातृभूमि-
रसत्यमाधारशिलाऽगुणानाम्।
सत्यस्य पूजा परमात्मपूजा,
सत्यात् परो नो परमेश्वरोऽस्ति ॥१॥

मुनि ने मणिशेखर से कहा—'सत्य गुणो की मातृभूमि है और असत्य अगुणो की आधारशिला। सत्य की पूजा परमात्मा की पूजा है। सत्य से बढकर कोई परम ईश्वर नही है।'

चौर्यं करिष्यामि मुने ! नितात,
वक्ष्यामि सत्य मनसापि वाचा।
त्यक्तु न चौर्यं प्रभवामि साधो !,
वक्तु पर सत्यमह समर्थ ॥२॥

मणिशेखर ने मुनि से कहा—'मैं चोरी अवश्य करूगा किन्तु मन और वाणी से सदा सत्य बोलूगा। प्रभो ! मैं चोरी छोड नही सकता किन्तु सत्य बोलने मे समर्थ हू।'

घोरा तमिस्रा सघन तमिस्र,
बन्धो ! कथं भ्राम्यसि रात्रिमध्ये ?
पृष्ठो नृपेणाह स चोरमुख्य,
चौर्यं विधातु नृपसद्म यामि ॥३॥

एक दिन मणिशेखर चोरी करने निकला। रास्ते मे परिवर्तित वेश मे राजा मिला। राजा ने पूछा—'भाई ! रात अधेरी है और अधकार भी सघन है। ऐसी रात मे क्यो घूम रहे हो ?' चोर सम्राट् मणिशेखर बोला—'मैं राजा के महल मे चोरी करने जा रहा हू।'

चोरोऽपि सत्य वदतीति राज्ञो,
न कल्पना चेतसि सबभूव।
विधाय चौर्यं पुनरागतस्य,
प्रश्नस्तथैवोत्तरमत्र जातम् ॥४॥

चौर्यं कृत क्वेति जगाद राजा,
प्रासादमध्ये नृपते स चाह।
भ्रान्ताशयोऽसौ ग्रथिलोऽथवा स्यात्,
सचिन्त्य राजा स्वगृह जगाम ॥५॥

चोर भी सत्य बोलता है—राजा को ऐसी कल्पना भी नही थी। चोर चोरी कर आ रहा था। राजा पुन मिला। चोर से पूछा—'तुम कहा गए थे ?' चोर ने कहा—'चोरी करने गया था।' राजा ने फिर पूछा—'तुमने चोरी कहा की ?' चोर ने कहा—'राजा के महल मे।' राजा ने यह सोचा—यह व्यक्ति या तो पागल है या विक्षिप्त है। राजा अपने स्थान पर आ गया।

जग्राह पेढायुगल मणीना-
मेका च मंत्री स्वगत चकार।
चोरो गृहीत समुवाच सत्य,
न सत्यमुक्त सचिवेन किञ्चित् ॥६॥

मणिशेखर ने राजा के खजाने से रत्नो की दो डिबिया चुराई थी। प्रात-काल चोरी की बात सुन मन्त्री खजाने मे गया और वहा पर बची एक डिबिया को स्वय घर ले गया। दूसरे दिन चोर पकड लिया गया। उसने राजा के समक्ष चोरी स्वीकार करते हुए कहा—'मैंने रत्नो की दो डिबिया चुराई हैं।' राजा ने

कहा—'वहा तीन डिबिया थी।' चोर ने कहा—'दो मैंने ली थी और तीसरी वहा रख दी थी।' राजा ने मन्त्री से पूछा। मन्त्री ने सच नही कहा। राजा के मन मे सन्देह हुआ। खोज करने पर एक डिबिया मन्त्री के घर मिली।

चोरोऽपि सत्य वदतीति राज्ञा,
व्यधायि सोऽमात्यवर स्वराज्ये।
अमात्यवर्योऽपि वदन्नसत्य,
कारागृहे वासमलचकार ॥७॥

'चोर भी सत्य बोलता है'—ऐसा सोचकर राजा ने मणिशेखर को अपने राज्य का सचिव बना दिया और 'मन्त्री होकर झूठ बोलता है'—ऐसा सोचकर उस मन्त्री को जेल मे डाल दिया।

(वि० स० २०२३ माघ, बम्बई—डॉ० नार्मन ब्राउन, सस्कृत विभागाध्यक्ष, पेनिसिलेविया यूनिवर्सिटी, अमेरिका, द्वारा प्रदत्त विषय)

२५ : समुद्र और वृक्ष-लयन

सिन्धुर्गर्जि व्यधित विपुला विक्षिपन् वीचिमाला,
शान्ता श्यामा विधुधवलिता तत्सहाया प्रजाता।
प्रासादानामपि विटपिना तीरदेशे स्थिताना,
भीतिर्दृष्टा न खलु वदनें तत्र हेतु समुद्र ॥१॥

समुद्र लहरो को उछालता हुआ जोर से गर्जन कर रहा था। चाद की चादनी से धवलित अधेरी रात समुद्र के गर्जारव को फैलाने मे सहायक हो रही थी, किन्तु तट पर स्थित बडे-बडे मकान और वृक्ष निष्प्रकम्प खडे थे। उनमे भय का लवलेश नही था। इसका मूल कारण था समुद्र। क्योकि समुद्र अपनी मर्यादा का अतिक्रमण नही करता।

उत्कीर्याद्रि लयननिवह सस्कृतोऽदृष्टपूर्व:,
छित्वा स्कन्ध वरशिखरिणो निर्मितो नोटजश्च।

दृष्टादृष्टे यदिह तुलनाऽधीयते तर्हि दृष्ट,
नादृष्टस्यार्हति किल कला षोडशी चापि विश्वे ।।२।।

पहाड को कुरेदकर बनाए गए मकानो की पक्ति हमने देखी थी। किन्तु वृक्ष के स्कन्ध को छीलकर एक उटज का निर्माण, हमारे लिए अदृष्टपूर्व था। दृष्ट और अदृष्ट मे यदि तुलना की जाए तो जो दृष्ट है वह अदृष्ट के सोलहवें भाग मे भी नही आ सकता।

(घोलवड—महाराष्ट्र-२०-१२-६७)

२६ : अहिसायां अपवादः

दुर्बलत्व भवेद् यत्र,
तत्रापवादकल्पना ।
प्रबलत्व यदा स्वस्या-
पवादा फल्गुता गता ।।१।।

जहा दुर्बलता होती है वही अपवाद की कल्पना होती है। जहा अपनी प्रबलता होती है वहा अपवाद निरर्थक हो जाते हैं।

अहिंसाकाशरूपेण,
सर्वत्रास्त्येकरूपगा ।
दुर्बला जायते भित्ति॰,
विवर जायते तदा ।।२।।

अहिंसा आकाश की भाति सर्वत्र एक-रूप है। जब भीत दुर्बल होती है, तब उसमे छेद होता है।

भित्तौ विवरभावोऽपि,
न च स्वाभाविको भवेत् ।
नापवादस्य चर्चाऽपि,
क्रियते श्रूयते क्वचित् ।।३।।

भीत मे छिद्र स्वाभाविक नही लगता। इसी प्रकार अहिंसा मे अपवाद की चर्चा क्रियमाण और श्रूयमाण नही है।

(१४-४-६८—तिलक विद्यापीठ,पूना)

२७ : तुलना

विषय—

[सर्वव्याप्यप्यनाधारं जगदाधारक महत्।
अनाद्यनन्तमतुल, सर्वाश्चर्यमय नभ ॥
तदिद परमेशस्य, ब्रह्मणो वा जिनस्य वा
रूपेण तुलना कृत्वा, गैर्वाण्यैवात्र वर्ण्यताम् ॥

सर्वव्यापी और निराकार होते हुए भी जगत् को आधार देने वाला, महान् अनादि-अनन्त, अतुलनीय और सबके लिए आश्चर्यकर आकाश की परमेश्वर, ब्रह्मा और जिनके रूप से तुलना करते हुए सस्कृतवाणी मे उसका वर्णन करें।]

विषयपूर्ति—

परत्वबुद्ध्या प्रभृत मनः स्यात्,
तदावकाश न परे लभन्ते।
आधारभूतो भवने स एव,
यस्यास्ति रिक्त च मन समस्तम् ॥१॥

जब मन 'परत्व' की बुद्धि से भरा होता है तब उसमे दूसरे (पर) प्रवेश नही पा सकते। जिसका मन समूचा खाली है, वही जगत् का आधार बन सकता है।

देवो भवेद् वापि जिनो भवेद् वा,
स एव लोके शरण ददीत।
शून्यत्वमाप्तो हि पर विभर्त्ति,
भृतो न वा क्वापि करोति निष्ठाम् ॥२॥

देव हो या जिन, वही लोक मे शरणभूत होता है जो विकल्प से शून्य है। जो शून्य होता है वही दूसरे को धारण कर सकता है। जो स्वय भरा हुआ है, वह दूसरे को निष्ठा (आधार) नही दे सकता।

लोकस्य नादित्वमिद गृहीत,
तथैव देवस्य न वा गृहीतम्।
यत्रैतदस्ति प्रवर तदानी,
तुलाऽतुला वा न च वर्णनीया ॥३॥

लोक का आदि-काल ज्ञात नही है। इसी प्रकार देव का आदि-काल भी ज्ञात नही है। जहा अनादित्व प्रवर है, वहा तुलना और अतुलना वर्णित नही हो सकती।

आकाशमेतद् न कदापि बुद्ध,
शून्य ततश्चापि च वर्ण्यमानम्।
तथैव भूयो भगवत्स्वरूप,
भवेच्च चित्र तदिद विशिष्टम् ॥४॥

यह आकाश है, ऐसा कभी ज्ञात नही हुआ। इसीलिए वह शून्यरूप से वर्णित हो रहा है। इसी प्रकार भगवान का स्वरूप भी कभी ज्ञात नही होता, फिर भी वह शून्य के रूप मे वर्णित होता है। यह बहुत आश्चर्य की बात है।

सीमा गत कोपि जनो जगत्या,
नाधारकत्व न तथाऽतुलत्वम्।
प्राप्नोति तेनाऽथ जनोपि देव,
स्यात् चित्रकारीति तनोमि भावम् ॥५॥

सीमा मे रहने वाला कोई भी मनुष्य न आधार बनता है और न अतुलनीय होता है। इसीलिए मनुष्य देव बनना चाहता है। यह आश्चर्यकारी है, ऐसा मैं कहता हू।

भूमिर्विशाला च तत समुद्र,
ततो नभ स्याद् भगवास्ततोऽपि।
भक्तस्य चित्त च ततोपि बाढ,
नाश्चर्यमेतद् भुवने किमस्ति ? ॥६॥

भूमि विशाल है। उससे समुद्र विशाल है। समुद्र से आकाश और आकाश से ईश्वर विशाल है। किन्तु भक्त का चित्त ईश्वर से भी विशाल है। क्या यह ससार मे आश्चर्य नही है ?

(१४-४-६८—तिलक विद्यापीठ, पूना)

२८ : सामञ्जस्य

विषय—

तत्त्वज्ञानस्य भेदाना सामञ्जस्यं कथ भवेत् ?

तत्त्व-ज्ञान मे भेदो का सामजस्य कैसे हो ?

विषयपूर्ति—

भेदोऽस्ति बुद्धौ न चिदीहभेदोऽ-
भेदेपि भेद वयमाश्रयाम ।
बुद्धि तिरस्कारपद नयाम,
समन्वयोऽय सुलभोस्ति सर्व ॥१॥

भेद बुद्धिगत है, चैतन्यगत नही। हम अभेद मे भी भेद को स्वीकार करते हैं। यदि हम बुद्धि को छोड दें, तो सारा समन्वय सुलभ हो जाता है।

सत्य द्वय नास्ति कदापि लोके,
तदस्ति बुद्धौ च विभज्यमानम् ।
अतिक्रम बुद्धिगत विधाय,
भेदस्य मूल परिपोषित स्यात् ॥२॥

ससार मे सत्य दो नही होता। बुद्धि मे प्रवेश पाकर वह सत्य विभक्त हो जाता है। बुद्धिगत-विभक्त-सत्य का सहारा लेकर ही भेद की जडें परिपुष्ट होती हैं।

ज्ञान यदा शब्दगत प्रकाश,
जनानशेषान् नयमानमस्ति ।

तावन्न भेदस्य भवेद् विलोप,
शब्देन लोका सकला विभक्ता ॥३॥

जब तक ज्ञान शब्दगत प्रकाश मे सारे लोगो को ले जाता रहेगा, तब तक भेद नही मिट सकता। सारे लोग शब्दो के माध्यम से ही बटे हुए हैं।

आत्मप्रकाशी भविता प्रबोध,
दृष्टिश्च वैशद्यमुपाश्रिताऽसौ।
प्रत्यक्षबोधे रममाण एष,
भेद न कुत्राऽपि करोतु सत्ये ॥४॥

जब मनुष्य का प्रबोध आत्म-प्रकाशी और दृष्टि विशद होगी तब वह प्रत्यक्ष ज्ञान मे विचरण करता हुआ सत्य को कभी विभक्त नही करेगा।

आरोपबुद्धिर्गलिता यत .स्यात्,
ततो मिथ स्याद् मिलन चवार्त्ता।
स्वतन्त्रभावोऽपि विचारकार्ये,
समन्वयस्यैष महानुपाय ॥५॥

समन्वय के ये तीन महान् उपाय हैं—

१ एक-दूसरे पर आरोप लगाने की वृत्ति का अभाव।
२ परस्पर मिलन और वार्ता।
३ विचार और कार्य मे स्वतन्त्रता।

(१४-४-६८—तिलक विद्यापीठ, पूना)

२६ : विषयद्वयी

१४-४-६८ को तिलक विद्यापीठ, पूना मे एक पडित ने मुनिश्री को विषय देते हुए यह श्लोक कहा—

अपरा वा परा विद्या,
भूकम्पाद् रक्षण नृणाम्।
छन्दसा सस्कृतेनात्र,
स्वाभिप्राय समर्थ्यताम् ॥

'अपरा और परा विद्या' तथा 'भूकम्प से लोगो का सरक्षण'—इन विषयो पर आप सस्कृत काव्य मे अपने अभिप्राय व्यक्त करें।

विषयपूर्ति—

अपरा-परा विद्या

परापरत्वेन विभज्यमाना,
विद्याद्वयीय विदुषा समस्ति।
परत्वमेतत् प्रियतामुपैति,
केषाचिदेवाप्यपराऽत्र विद्या ॥१॥

विद्वानो मे दो विद्याए सम्मत हैं—परा और अपरा। इस ससार मे कुछेक मनुष्यो को परा विद्या प्रिय होती है और कुछेक लोगो को अपरा विद्या प्रिय होती है।

ये सूक्ष्मभावा मनुजा भवन्ति,
सूक्ष्मा परा ते सतत स्पृशन्ति।
ये स्थूलदृष्टि श्रितवन्त एव,
विद्या हि तेषामपरा विभाति ॥२॥

जो मनुष्य सूक्ष्म विचार वाले हैं, वे सतत परा विद्या का स्पर्श करते हैं और जो स्थूल दृष्टि वाले हैं, वे अपरा विद्या का आश्रय लेते हैं।

आत्मास्ति दृष्टो विबुधै प्रकाम,
दृष्टिश्च येषा विशदत्वमाप्ता।
अध्यात्मभाजो मनुजा विशिष्टा,
परासु विद्यासु भृश यतन्ते ॥३॥

जिनकी दृष्टि विशदता को प्राप्त हो गई है, उन विबुधो ने आत्मा को देखा है। जो मनुष्य विशिष्ट रूप से आध्यात्मिक होते हैं, वे परा विद्याओ मे अत्यधिक प्रयत्नशील रहते हैं।

देहेषु बुद्धिश्चरतीह येषा,
देहस्पृशस्ते मनुजा भवन्ति।
ते स्थूलदृष्ट्या सतत लभन्तेऽ-
परा च विद्यामविकम्पमाना ॥४॥

जिन मनुष्यो की वुद्धि जड शरीर मे ही विचरण करती है, वे शरीर का स्पर्श करने वाले होते हैं। वे अपनी स्थूल-दृष्टि से विना हिचक के सदा अपरा विद्या को ही प्राप्त होते हैं।

भूकम्प

या स्यात्प्राकृतिकी प्रकोपपटली तस्या भवेद् रक्षण,
चेष्टा मानसिकी तथैव सकला वृत्ति समायोजिता।
के के देहभृतो न कम्पनयुता स्युश्चित्तवृत्ति श्रिता,
कम्प स्वात्मगत न यावदतुल पश्यन्ति रक्षा कुत ॥१॥

जो प्राकृतिक प्रकोप होता है, उससे रक्षा करने के लिए मानसिक चेष्टा और सारी प्रवृत्तिया समायोजित होती हैं। मन के पीछे चलने वाले ऐसे कौन मनुष्य हैं जो कम्पनयुक्त नही हैं? जव तक मनुष्य अपने आत्मगत अतुल कम्पन को नही देख पाते, तव तक रक्षा कैसे हो सकती है?

चेत्सत्यबुद्धया स्थिरचेतस स्यु-
र्न नाम भूकम्प इहास्तु भूय।
तदा स्वकम्पात् विरता भवेयु
रक्षाऽभ्युपायो गदितो मयात्र ॥२॥

यदि मनुष्य सत्यवुद्धि से स्थिरचित्त वाले हो जाए तो फिर यहा भूकम्प नही होने वाला है। तभी वे अपने कम्पनो से विरत हो सकते हैं। भूकम्प से रक्षा का यह उपाय मैंने प्रतिपादित किया है।

भूमौ प्रकम्प क्वचिदेव जात,
चिन्ता समस्तानुगता समेषाम्।

प्रकम्प एवात्मनि जायमान,
चिर न चिन्ता परिलक्ष्यतेऽत्र ॥३॥

भूमी का कपन कही एक क्षेत्र मे हुआ है, किन्तु सभी व्यक्ति इससे चिन्तित हो गए हैं। किन्तु आत्मा मे सतत प्रकम्पन हो रहा है, इसकी कोई चिन्ता परिलक्षित नही हो रही है।

क्रोधस्य कम्पश्च तथैव माया,
प्रकम्पमाना नितरा प्रभाति।
लोभश्च गृद्धिश्च परानुभूति-
भूकम्प एवास्ति कथ न तत्र ॥४॥

जहा निरन्तर क्रोध, माया, लोभ, गृद्धि और परानुभूति के प्रकम्पन हो रहे हैं, वहा भूकम्प कैसे नही होता ?

असत्प्रवृत्तिर्मनुजस्य वृद्धा,
पापस्य चौर्यस्य महान् प्रयत्न ।
व्यापारकार्येऽपि तथा प्रवृत्ति,
स्याच्चौर्यकार्यानुगता बहूनाम् ॥५॥

आज मनुष्य मे असत् प्रवृत्ति बढ रही है। पाप और चोरी का महान् प्रयत्न हो रहा है। व्यापार मे भी चोरी की प्रवृत्ति वृद्धिगत हो रही है।

लचाग्रहोप्यस्ति च लोकमध्ये,
विश्वासघात, प्रबलोस्ति पुसाम्।
तथापि भूकम्प इहास्तु मा मा,
केय प्रवृत्ति खलु भाति पुसाम् ॥६॥

लोगो मे रिश्वत और विश्वासघात की प्रबलता है। फिर भी लोग चाहते हैं कि 'भूकम्प न हो,' 'भूकम्प न हो'। मनुष्यो की यह कैसी प्रवृत्ति ?

नात्मा विशुद्धो भवितास्ति यावत्,
न कर्म शुद्ध खलु विद्यमानम्।
तावत् प्रकम्पो भवितास्ति नूनम्
रक्षा कथ नाम करोतु देव: ॥७॥

जब तक आत्मा पवित्र नही होती और बंधे हुए कर्म नही टूटते तब तक प्रकम्प होता रहेगा। देव भी रक्षा कैसे कर सकते हैं ?

पापप्रवृत्तिं च समाचरन्त,
फल वरेण्य स्पृहयन्ति लोका ।
विरोधिकार्यं कथमस्ति भावि,
भूयात्तदानी जगदेव लुप्तम् ।।८।।

मनुष्य पाप की प्रवृत्ति करते हुए भी अच्छे फल पाने की इच्छा करते हैं। यह विरोधी बात कैसे हो सकती है ? यदि ऐसा हो जाए तो जगत् ही लुप्त हो जाए।

३० : नयवाद

विरोधियुग्म कथमत्र भूयात्,
प्रतीतिरेषाऽस्ति पुरातनानाम् ।
वैज्ञानिकेस्मिन् समये मनुष्यै-
र्भिन्नत्वमाप्त बहुधा प्रवृत्तैं ।।१।।

एक ही वस्तु मे विरोधी युगल कैसे रह सकता है—यह प्रतीति पुराने व्यक्तियो की है। आज के इस वैज्ञानिक समय मे बहुधा-प्रवृत्त मनुष्यो ने भिन्नता प्राप्त की है।

अस्तित्वमाधाय यदस्ति नित्य,
नास्तित्वहीन न तदस्ति नूनम् ।
सतोऽसतश्चापि न कोपि भेद,
सर्वत्र युग्म लभते प्रवृत्तिम् ।।२।।

जो पदार्थ अस्तित्व धर्म की अपेक्षा से नित्य है वह निश्चय ही नास्तित्व से विहीन नही है। यदि ऐसा न हो तो सत् और असत् मे कोई अन्तर नही हो सकता, इसलिए सर्वत्र विरोधी-युग्म मिलते हैं।

यावज्जगत्यामिह वर्तमान,
तदेव भूत च तदेव भावि।
न चाणुमात्र लभतेऽत्र हानि,
नोत्पत्तिमन्या लभते नवीनम् ॥३॥

जो इस जगत् मे वर्तमान है, वही रहा है और वही होगा। न अणुमात्र कम होता है और न अणुमात्र नए रूप मे उत्पन्न होता है।

शब्दस्य नून विकला प्रवृत्ति,
नैकक्षणे वाच्यमशेषित स्यात्।
स्याच्छब्दयुक्ता भवति प्रवृत्ति,
वक्तु क्षमा वस्तुसमग्ररूपम् ॥४॥

शब्द की प्रवृत्ति विकल होती है। एक क्षण मे वह वाच्य को अशेष रूप मे कह नही पाता। जब वह शब्द 'स्यात्' युक्त होता है, तभी वह वस्तु के समग्र रूप का वाचक बनता है।

वाच्यो न वाच्य सकलः पदार्थ,
स्याच्छब्दयुक्तो भवतीह वाच्य ।
एकेन धर्मेण च वाच्यमान,
समग्रवस्तु स्थिरतामुपैति ॥५॥

पदार्थ वाच्य होने पर भी अनन्तधर्मा होने के कारण वाच्य नही है। वह 'स्यात्' शब्द से युक्त होकर ही वाच्य बनता है। समग्र वस्तु यदि एक धर्म के द्वारा वाच्य होती है तो वह वर्तमान पर्याय मे ही स्थिर हो जाती है, गतिशील नही रहती और नए-नए पर्यायो के उत्पन्न होने की क्षमता को खो बैठती है।

भङ्गत्रयीय विबुधै प्रबुद्धा,
चतुष्टय भङ्गमितो विकल्प्यम्।
विकल्पमात्रेण भवेत्प्रवृत्ति,
सापेक्षभावान् प्रति सत्यलब्धान् ॥६॥

विद्वानो ने तीन भगो (विकल्पो) का कथन किया है—स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अवक्तव्य। शेष चार भग—स्याद् अस्ति-नास्ति, स्याद् अस्ति-अवक्तव्य, स्याद् नास्ति-अवक्तव्य और स्याद् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य—इन्ही के

द्वारा विश्लेषणीय हैं। नय के द्वारा वस्तु के अंशों के प्रति विश्लेषण में भी प्रवृत्ति होती है।

स्यात्सप्तभङ्गी विशदा विबोधे,
भेदानशेषान् परिकल्पयन्ती।
अनन्तभेदा अपि सङ्गृहीता,
समन्वमानाश्च विविच्यमानाः ॥७॥

समग्र भेदों की परिकल्पना करने वाली यह सप्तभंगी ज्ञान के लिए विशद उपाय है। इसके द्वारा वस्तु के समन्वयमान और विविच्यमान अनन्त धर्म संगृहीत हो जाते हैं।

(२८-८-६८ डेक्कन कालेज, पूना में श्री श्रीनिवास शास्त्री द्वारा प्रदत्त विषय)

३१ : कलाक्षेत्र

सरस्वतीयं वरदा विभाति,
आचार्यवर्याविरतो विभान्ति।
कक्षावलीयं ललिता मनोज्ञा,
कलाकलापः कुरुते प्रमोदम् ॥१॥

इधर सरस्वती की प्रतिमा और इधर आचार्य तुलसी विराजमान हैं। यह कक्षावली ललित और मनोज्ञ है। यहां का सारा कलाकलाप प्रमुदित हो रहा है।

चित्तं कलाया ललितं प्रसन्नं,
कलाविदां कान्ततरः स एव।
न षोडशी नाम कला च सोऽर्हत्,
चित्तं विलुप्तं वरिवर्ति यस्य ॥२॥

कलाविदों में वही श्रेष्ठ है जिसका मन कलाओं से ललित और प्रसन्न हो

चुका है। जिसका मन विलुप्त है, वह कला की सोलहवी कला को भी नही पा सकता।

सर्वा कला धर्मकलाप्रविष्टा,
चित्त यत स्वास्थ्यमुपैतिभव्यम्।
चित्तस्य नाशेन कलाकला स्यात्,
सर्वस्तथैवाभिनयोभिनीत ॥३॥

सारी कला धर्म-कला मे प्रविष्ट है। इससे चित्त प्रसन्न होता है। चित्त के नष्ट होने पर कला अ-कला हो जाती है। इसी प्रकार सारा अभिनीत अभिनय अनभिनय हो जाता है।

स्वरा. कलास्थानमुपाव्रजति,
तथा शरीरावयवा अशेषा।
कलामय विश्वमिद समस्त,
कलामय यस्य मनो विभाति ॥४॥

जिसका मन कलामय है उसके सारे स्वर और शरीर के सभी अवयव कला वन जाते हैं तथा यह सारा विश्व कलामय हो जाता है।

केशावलीय ललिता सुरम्या,
चक्षु प्रसन्न विमला प्रवृत्ति।
सौन्दर्यमेतत्सहज वरेण्य,
क्षेत्र कलायाश्च भवेत्तदेव ॥५॥

ललित और सुरम्य केश-राशि, प्रसन्न चक्षु और निर्मल प्रवृत्ति—यह व्यक्ति का सहज-श्रेष्ठ सौन्दर्य है और वस्तुत यही कला-क्षेत्र है।

(३-११-६८ अडियार (तमिलनाड्) मे रूक्मणी देवी अरुडाल के कला-क्षेत्र मे)

३२ : त्रिनेत्र

दृष्टिर्यस्यास्ति निद्रामपि च गतवतो द्रष्टुमर्हेन्न सत्य-
मेक नेत्र विनिद्र भवति परिचित किञ्चिदालोकता तत् ।
नेत्रे द्वे स्ते विनिद्रे प्रतिपलकमसौ मज्जतात्सत्यसिन्धौ,
सप्त सप्तार्कनुन्नारुणकिरणनिभ पातु बिभ्रन् त्रिनेत्र ।।१।।

जिसकी दृष्टि सुप्त है, वह सत्य को नही देख पाता। जिसकी एक आख खुली है, वह कुछ परिचित पदार्थों को देख सकता है। जिसकी दो आखें खुली हैं, वह प्रतिपल सत्य के समुद्र मे डुबकिया लेता रहता है। किन्तु त्रिनेत्र, जो सात घोडो से प्रेरित सूर्य की किरणो के समान तेजस्वी है, वह सत्य का पारगामी होता है, 'वह हमारी रक्षा करे।

(१७-११-६८ मद्रास सस्कृत कॉलेज)

३३ : अदृश्य-दर्शन

चिदम्बरे भानुरुदेति पूषा,
चिदम्बरे गच्छति मेघमाला।
सर्वेपि लोका विहिताशया स्यु,
चिदम्बरत्व न वृत यदा स्यात् ।।१।।

चिदाकाश मे पूपा—सूर्य उदित होता है और चिदाकाश मे ही मेघमाला उमडती है। जब चिदाकाश आवृत नही होता तब सारे लोग अच्छे विचारो वाले होते हैं।

सर्वा तपस्यापि च साधनापि,
सर्वोऽपि पुसा श्रम एव लोके।
चिदम्बरत्व खलु लब्धुमेव,
विना तदेतत्सकल विसारम् ।।२।।

सारी तपस्या, साधना और सभी व्यक्तियो का श्रम केवल चैतन्याकाश को पाने के लिए ही होता है। उसके बिना सब कुछ बेकार है।

आचार्यवर्यास्तुलसी वरेण्या,
चिदम्बरादाप्तशरीरपोषा ।
ज्ञान विवेकस्य विलब्धुमत्र,
चिदम्बरे सप्रति प्राप्तवन्त ॥३॥

श्रीमद् आचार्य तुलसी उसी चिदाकाश से शरीर मे पोषण पा रहे हैं। वे विवेक का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अभी चिदम्बर मे आए हैं।

रूप न रूप यदि नास्ति दृष्ट,
न नामरूपे विहिते हि काम्ये।
क्व पारदर्शी स्फटिकावदात,
आत्मा मदीयस्त्विति दर्शनार्थी ॥४॥

वह रूप रूप नही है जो दृष्ट नही होता तथा नाम और रूप अभिलषणीय रूप मे विहित नही हैं। 'मेरा स्फटिक की भाति निर्मल और पारदर्शी आत्मा कहा है'—यह देखने का अर्थी होकर मनुष्य चिदाकाश मे घूम रहा है।

रूप विलोक्यापि न दृष्टमत्र,
दृश्य यदत्रास्ति च चक्षुषापि ।
अदृश्यमाद्रष्टुमिहाव्रजन्ति,
लोका· स्वचक्षुर्विहितावभासा ॥५॥

मनुष्य ने रूप को देखकर भी यहा उसे नही देखा जो चक्षु के द्वारा दृश्य है। इसलिए मनुष्य अपनी आखो मे ज्योति सजोकर अदृश्य को देखने के लिए यहा 'चिदवर' मे आ रहे हैं।

(२५-१-६६ चिदम्बरम्, तमिलनाडु, नटराज मन्दिर)

३४ : कलश

मागल्यधाम परम कलशो विभाति,
सर्वत्र पूजितजनै विहितो मतश्च ।
पूर्णत्वभावगरिमा वृणुते तदैव,
यद् व्यापृतो जलभृतश्चलितो न किंचित् ।।१।।

कलश परम मगल है। यह सर्वत्र पूजित-जनो (पूर्वजो) द्वारा सम्मत और विहित है, क्योकि यह पूर्णता का द्योतक है। पूर्णता और गरिमा उसी को प्राप्त होती है जो व्यापृत होने पर भी कभी नही छलकता।

कल्याणमेतत् किल धातुपात्र,
पात्र पवित्र हृदय भवितृ ।
आचार्यवर्या हृदयानुभूति-
प्रपूतचित्ता परमा पवित्रा ।।२।।

यह धातु-पात्र कलश मगल माना जाता है। हृदय-पात्र तो सबसे बडा मगल है। हृदय की अनुभूति से पवित्र चित्तवाले आचार्यवर्य परम पवित्र हैं।

(त्रिवेन्द्रम् (केरल), राजप्रासाद मे महारानी सेतुपार्वती
द्वारा प्रदत्त विषय, १८-३-६६)

३५ : समागमन

मध्याह्नवेला परमा प्रशस्ता,
मित्रानुभूते स्मृतिरत्र पूर्णा ।
अतीत भावोऽपि च वर्तमाने,
समन्वित स्यात् क्वचिदेव लब्ध ।।१।।

यह प्रशस्त मध्याह्न-वेला है। यहा मित्रता की अनुभूति की स्मृति भी सम्पन्न हुई है। वर्तमान मे अतीत का सामजस्य कही-कही ही प्राप्त होता है।

पद्भ्या विहार विदधन् मुमुक्षु,
प्रासादमध्ये स्थितिमान्नरेश ।
यद् वायुयानें विदधच्च यात्रा,
त्रिसगम पुण्यमिदं विभाति ॥२॥

आचार्यश्री मुमुक्षु हैं। वे भूमि का स्पर्श कर चलते हैं। नरेश प्रासाद मे रहते हैं और तीसरे ये शुभकरणजी दसानी हैं, जो वायुयान से यात्रा करते हैं। इस प्रकार भूमि (आधार), मध्य और ऊर्ध्व—इन तीनो का यह सगम है।

(त्रिवेन्द्रम्—राजप्रासाद १८-३-६६)

३६ : समाधि

ध्यानयोग समालव्य,
ब्रह्मानन्दोनुभूयते ।
यस्य ध्यानपद नास्ति,
नानन्दस्तस्य जायते ॥१॥

ध्यान-योग के आलवन से ब्रह्म के आनन्द का अनुभव प्राप्त होता है। जो ध्यान मे आरूढ नही है, उसे आनन्द की अनुभूति नही हो सकती।

(७-४-६६ अलनूर मे 'सिद्धाश्रम' के स्वामी निर्मलानन्दजी के गुरु ब्रह्मानन्दजी के समाधि-स्थल पर)

३७ : मैसूर राजप्रासाद

आचारवन्त स्वयमुद्वहन्ति
सदा प्रचार प्रथयन्ति तस्य ।

आचारनिष्ठानऽपरान् सृजन्ति,
आचार्यसञ्ज्ञामुपयान्ति ते हि ॥१॥

जो स्वय आचारवान् हैं, सदा आचार का प्रचार करते हैं और दूसरो को आचारवान् बनाते हैं, वे ही 'आचार्य' कहलाते हैं।

आचारनिष्ठा प्रबला यदा स्यात्,
तदा मनुष्या इह सत्यनिष्ठा ।
आधारशून्य न गृह गृह स्या-
न्नाचारशून्यो मनुजोऽपि तद्वान् ॥२॥

जब आचार-निष्ठा प्रबल होती है तब मनुष्य सत्यनिष्ठ होते हैं। जिस प्रकार आधार-शून्य गृह गृह नही होता उसी प्रकार आचार-शून्य मनुष्य मनुष्य नही होता।

आचार्यवर्यश्च विराजमाना,
यत्सम्मुखीनो नरनायकोऽपि ।
स लौकिकश्चापि तथेतरोऽपि,
सयोग एष प्रकृत प्रकृष्ट ॥३॥

एक ओर आचार्य तुलसी विराजमान हैं और उनके सम्मुख महाराजा (मैसूर) बैठे हुए हैं। ये महाराजा लौकिक और आचार्य तुलसी पारलौकिक विद्याओ में निपुण हैं। यह एक उत्कृष्ट सयोग मिला है।

इतश्च सघो यमिना विभाति,
वनस्पते साक्ष्यमिद च मध्ये ।
स्वामी स्थित सम्मुख एष पुण्य,
सर्वोऽपि योग सहजोऽस्ति लब्ध ॥४॥

इधर साधु-साध्वियो का समूह है। बीच में फल-फूलो से भरे हुए थाल हैं।[१] सामने राजपुरोहित बैठे हुए हैं। यह सारा योग सहज रूप से प्राप्त हुआ है।

(२-५-६९ मैसूर राजप्रासाद)

---

१ मैसूर के महाराजा ने आचार्यश्री को भेंट देने के लिए फल-फूलो से भरे थाल वहा सजा रखे थे।

३८ : बाहुबली

शक्तिर्व्यक्ति याति बाहुद्वयेन,
ज्ञानालोको मस्तकस्थो विभाति ।
आलोकाना माध्यम चक्षुरेतत्,
मोहाऽभावो व्यज्यते पुस्कचिन्है ॥१॥

मनुष्य अनन्त शक्ति का स्रोत है। उसकी मुख्य शक्तिया चार हैं—ज्ञान, दर्शन, वीर्य और पवित्रता। मनुष्य के शरीर मे इन चारो शक्तियो की अभिव्यक्ति के चार स्थान हैं—

१ ज्ञान का स्थान है—मस्तक।
२ दर्शन का स्थान है—चक्षु।
३ वीर्य का स्थान है—बाहुद्वय।
४ पवित्रता का स्थान है—पुस्कचिह्न।

शक्ति समस्ता त्रिगुणात्मिकेय,
प्रत्यक्षभूता परिपीयतेऽत्र ।
स्फूर्त्ता स्वभावा सकलाश्च भावा,
मूर्त्ता इहैवात्र विलोक्यमाना ॥२॥

आज हम त्रिगुणात्मिका शक्ति—ज्ञान, दर्शन और पवित्रता का साक्षात् अनुभव करते हुए बाहुबली की इस विशालमूर्ति को आखो से पी रहे हैं। यहा सारे स्वभाव और भाव स्फूर्त और मूर्त-हुए से लगते हैं।

स्वतन्त्रताया प्रथमोस्ति दीप,
नतो न वा यत्स्खलित· क्वचिन्न ।
त्यागस्य पुण्य प्रथम प्रदीप,
परपराणा प्रथमा प्रवृत्ति ॥३॥

महान् बाहुबली स्वतन्त्रता के प्रथम दीप थे। वे न तो कही झुके और न कही स्खलित हुए। त्याग के वे प्रथम प्रदीप और परम्परा-प्रवर्तक के अग्रणी थे।

समर्पणस्याद्यपद विभाति,
विसर्जन मानपदे प्रतिष्ठम् ।

शैलेशशैली विदधत्स्वकार्यं,
शैलेश एष प्रतिभाति मूर्त्तः ॥४॥

महान् बाहुबली समर्पण के आद्य प्रवर्तक और विसर्जन के मानदंड थे। ये शैलेश बाहुबली पर्वतराज की सारी सपदा को स्वगत किए हुए आखो के सामने खडे हैं।

(१६-५-६६ श्रवणबेलगोल (मैसूर), बाहुबली की मूर्ति के समक्ष)

३९ : वाक्-संयम

पश्यामि साक्षाद् विषये विरोध,
करोमि किं वा किमिद विचित्रम्।
वक्तु प्रदत्तो विषयो ममाऽसौ,
वाक्सयमस्याऽत्र महत्त्वमस्ति ॥१॥

मुझे आशुकविता मे बोलने के लिए विषय दिया गया है—'वाक्-सयम का महत्त्व'। मैं इस विषय मे साक्षात् विरोध देख रहा हू। अब मैं क्या करू?

वदाम्यह तन्नहि वाग् यथा स्याद्,
वदामि नाह विषयस्य पूर्तिम्।
प्रायो विरोधे समुपस्थिते हि,
मार्गो नव स्याच्च पुरस्कृतोऽपि ॥२॥

यदि बोलता हू तो वाक्सयम नही रहता और यदि नही बोलता हू तो विषय की पूर्ति नही होती। प्राय विरोध उपस्थित होने पर ही नया मार्ग निकल आता है।

आकाशमेतत् सकल समग्र,
तत्रापि निर्माणमभूद् गृहाणाम्।
गृह न चाकाशमपेतरन्न,
तथैव वच्मीति न वापि वच्मि ॥३॥

यह सम्पूर्ण आकाश एक है, अखण्डित है, तो भी घरो का निर्माण हुआ है। घर न पूर्ण आकाश है और न आकाश से भिन्न है। उसी प्रकार मैं बोल भी रहा हू और नही भी बोल रहा हू।

आचार्यप्रोक्त मुखवस्त्रिकेय,
वाक्सयमस्यास्ति प्रतीकमच्छम् ।
उच्छृखला वाग् बहुवर्ततेऽत्र,
ग्रामेप्यरण्येपि च ससदीह ॥४॥

आचार्यश्री ने कहा है—मुखवस्त्रिका वाक्सयम का प्रतीक है। गाव मे, जगल मे और ससद मे—सर्वत्र आज वाणी की उच्छृखलता दीख रही है।

नात्मश्लाघा पडितेनात्र कार्या,
दोषा वाच्या नो परेषा कदाचित्।
एतत् स्पष्ट साम्प्रत जायमान,
वैचित्र्य तद् व्यत्ययो नाम जात ॥५॥

अपनी प्रशसा और दूसरो का दोषाख्यान पडित व्यक्ति को नही करना चाहिए। लेकिन आज स्पष्टरूप से इसका व्यत्यय हो रहा है। यह आश्चर्य की बात है।

(२-५-७० गोपुरी मे विनोबा भावे द्वारा प्रदत्त विषय)

समस्यापूर्तिरूपम्

• •

१: समस्या—दुर्जया वत ! बलावलिप्तता

व्योम्नि कुजररिपुर्घनाघन-
गर्जन किल निशम्य सत्वरम् ।
जानुभङ्गमयते निरर्थक,
दुर्जया वत ! बलावलिप्तता ।।

आकाश मे मेघ के गर्जन को सुनकर अष्टापद (हाथियो का शत्रु) तत्काल ही (मेघ को हाथी समझकर) ऊपर उछला और व्यर्थ ही उसने अपनी टागें तोड ली। यह सच है कि बल के गर्व को जीतना बहुत ही दुष्कर है।

(वि० स० १९९८ पौष-राजलदेसर)

२. समस्या—वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु

जलाशयानाममृतोपम खलु,
पिवन्ति नीर न तृषातुरा अपि ।
नभोम्बुपा वारिदवारिणा विना,
वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु ।।

चातक प्यास से आकुल होने पर भी मेघ का पानी ही पीते हैं। वे कभी जलाशयो का अमृत-तुल्य जल भी नहीं पीते। यह सच है कि गुण प्रेम मे रहते हैं, वस्तु में नही।

(वि० स० १९९८ पौष—राजलदेसर)

३: समस्या—गीत न गायतितरां युवतिर्निशासु

श्रोतु विहाय शशिन मम गानमेणो,
भूमौ समेष्यति तदा स विधुर्निरङ्क ।
भूत्वा तुलिष्यति मुखेन ममेति भीत्या,
गीत न गायतितरा युवतिर्निशासु ।।

किसी ने पूछा कि युवती रात्रि मे गीत क्यो नही गाती ? कवि ने कहा—एक बार युवती ने सोचा जब मैं गीत गाऊगी तब चन्द्रमा मे स्थित सगीतप्रिय हरिण मेरा गीत सुनने के लिए भूमि पर आ जाएगा और वह चन्द्रमा 'निरङ्क' (निष्कलक) होकर अपने आपकी तुलना मेरे मुह से करेगा। इसी विचार से युवती रात मे गीत नही गाती।

(वि० स० १९९८ पौष—राजलदेसर)

४: समस्या—न खलु न खलु वाच्यं सन्ति सन्त कियन्तः

न खलु न खलु वाच्य सन्ति सन्त कियन्तो,
भणितिरिति पुराणा शीघ्रगामी क्षणोऽयम् ।
जगति विसृमरोऽभूत् सघ आणुव्रतोऽथ,
भवतु तवकपृच्छा सन्त्यसन्त कियन्त ।।

अब ऐसा मत कहो कि सन्त कितने हैं ? यह कथन बहुत पुराना हो चुका है। आज का क्षण अत्यन्त शीघ्रगामी है। अणुव्रतसघ (आन्दोलन) सारे जगत् मे फैल चुका है, अत अब तुम यह पूछो कि इस दुनिया मे असन्त कितने हैं, न कि सन्त कितने हैं।

(वि०स० २०१० माघ—राणावास)

५ : समस्या—मुकोऽपि कोऽपि मनुजः किमु वाक्पटुः स्यात् ?

मूकोऽपि कोऽपि मनुज किमु वाक्पटु स्याद् ?
विद्वद्पते कथमसम्भवकल्पना वा ।
आत्मा विलोकित इतीह निजानुभूति-
माचार्य आविरकरोन्मयि सप्रयुक्ताम् ॥

विद्वानो की यह कल्पना असम्भव नही है कि मूक मनुष्य भी वाक्पटु हो जाता है। मैं जब अपने आपको देखता हू तब लगता है कि मेरे मे सजोई हुई अनुभूति को आचार्य ने व्यक्त कर यह सिद्ध कर दिया कि मूक भी व्यक्त—वाक्पटु हो सकता है।

६ : समस्या—दिशि प्रतीच्या समुदेति भानु

मृते धवे यद् विधवा भवित्री,
पुराणमेतच्च युगे नवेस्मिन् ।
त्यक्त स्त्रिया स्यात्पतिरेव जीवन्,
दिशि प्रतीच्या समुदेति भानु ॥

पति के मरने पर स्त्री विधवा हो जाती है, यह पुराने युग की बात है। आज के इस नये युग मे जीवित पति भी स्त्री के द्वारा त्यक्त हो जाता है। इसीलिए आज सूर्य पश्चिम दिशा मे उदित हो रहा है।

(उज्जैन, वि० स० २०१२, सस्कृत सम्मेलन)

७ : समस्या—मशकदशनमध्ये हस्तिन सञ्चरन्ति

नृपतिरपि जन स्यात्प्राकृतो मार्गचारी,
क्वचिदपि न पुराणै कल्पना चाप्यकारि।
भवति जगति नेता साम्प्रत नाम निस्व,
मशकदशनमध्ये हस्तिन सञ्चरन्ति ॥

राजा भी मार्ग पर चलने वाला सामान्य जन हो सकता है, ऐसी कल्पना किसी प्राचीन कवि ने नही की। आज ससार मे नेता वही है, जो निर्धन होता है। कवि ने उचित ही कहा है कि मच्छर के दातो के बीच से हाथी गुजर रहे हैं।

(उज्जैन, वि० स० २०१२, सस्कृत सम्मेलन)

८ : समस्या—कालोकज्जलशोणिमा धवलयत्यर्ध नभोमण्डलम्

कालीकज्जलशोणिमा धवलयत्यर्ध नभोमण्डल,
दुष्ट कोपि सुविद्यया धवलितो जातो मनाक् सन्मना।
दुष्टान् मानसिकान्निजान् प्रतिपल भावान् विहातु यत,
दुष्टत्व विगलन्न वा सुजनता यद् व्याप्यमाना ध्रुवम् ॥

कोई दुष्ट व्यक्ति सुविद्या से धवलित होकर कुछ उत्तम मन वाला हो गया। उसने अपने दुष्ट मानसिक भावो को छोडने का प्रयत्न किया। उसका दुष्टत्व विगलित हो रहा है और नई सुजनता उसमे व्याप्त हो रही है। ऐसा लग रहा है मानो काली की कजरारी अरुणिमा आधे नभ-मडल को धवलित कर रही है।

(उज्जैन, वि० स० २०१२, सस्कृत सम्मेलन)

९ : समस्या—सभामध्ये न कोकिला

न वसन्तो न चाम्राणि,
न चैवेय वनस्थली ।
किं चित्र यदि वा विद्वन् !,
सभामध्ये न कोकिला ।।

न वसन्त ऋतु है, न आम्रफल और न यह वनस्थली है। विद्वन् ! यदि इस सभा मे कोयल न हो तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

(विक्रम स० २०१२ पौष कृ० १०, रतलाम—सस्कृत साहित्य सम्मेलन)

१० : समस्या—चित्रं दिवापि रजनी रजनी दिवा च

यस्मात् प्रकाशकिरण प्रसभ प्रथन्तेऽ-
प्यन्धत्वमेति नयनञ्च तमीक्षमाणम् ।
ज्योतिर्नव स्फुरति सतमसे प्रगाढे,
चित्र दिवापि रजनी रजनी दिवा च ।।१।।

जिस सूर्य से प्रकाश-किरणें विकीर्ण होती हैं, उसको देखने वाली आख चुधिया जाती है। सघन अन्धकार मे नई ज्योति प्रकट होती है। विचित्र है—दिन मे रात और रात मे दिन हो रहा है।

आलोक एप लपते जडपात्रचारी,
धूमोदयो भवति तेजसि दीप्यमाने ।
पुत्र सुधीर्जनयिता च जडोन्यथा पि,
चित्र दिवापि रजनी रजनी दिवा च ।।२।।

यह प्रकाश मिट्टी के दीप मे रहने वाला है। जब इसका तेज दीप्त होता है तब धुआ निकलने लग जाता है। कही पुत्र विद्वान् है तो पिता मूर्ख और कही पिता विद्वान् है तो पुत्र मूर्ख। विचित्र है, विचित्र है—दिन में रात और रात मे दिन हो रहा है।

नैकात्मता भवति काचन भद्रतायां,
विद्युद् विमन्थररुचिर्दिवसे विभाति ।
सैव प्रकाशमतुलं तनुते निशायां,
चित्रं दिवापि रजनी रजनी दिवा च ।।३।।

भद्रता मे कोई एकात्मकता नही होती । दिन मे विद्युत् का प्रकाश मद हो जाता है और वही प्रकाश रात मे अत्यन्त तीव्र हो जाता है । विचित्र है—दिन मे रात और रात में दिन हो रहा है ।

कृष्णापि कापि किल दृष्टिरियञ्च तारा,
श्वेतोन्धलो भवति यन्नयनस्य भागः ।
कार्ष्ण्ये प्रकाशपटुता तिमिरं वलक्षे,
चित्रं दिवापि रजनी रजनी दिवा च ।।४।।

आखो का यह काला तारा देख सकता है और आख का श्वेत भाग अधा होता है, देख नही सकता । काले मे प्रकाश की पटुता है और सफेदी मे अधकार है । विचित्र है—दिन मे रात और रात मे दिन हो रहा है ।

(रतलाम—वि० स० २०१२ पौष कृ० ९)

११ : समस्या—कर्दन्त्यमी मानवाः

प्राणो नृत्यति विश्वगः प्रतिपलं सर्वान् जनान् जीवयन्,
नीतेर्भ्रंश इहाजनिष्ट सततं सोप्यस्ति निष्प्राणितः ।
वायुर्नृत्यति साम्प्रतं च गगने सर्वास्ववस्थास्वपि,
निष्प्राणा भुवने भवन्ति सकला कर्दन्त्यमी मानवा ।।

यह विश्वव्यापी प्राण सब जनो को जीवन देता हुआ नृत्य करता है । किन्तु आज नीति का विनाश हो गया, इसलिए वह प्राण भी निष्प्राण हो गया । अब सब अवस्थाओ मे इस नील गगन मे केवल वायु नृत्य कर रही है । प्राण चला गया, केवल वायु रह गई है । जब विश्व मे सब पदार्थ निष्प्राण हो जाते हैं, तब मनुष्य केहुनी को बजाया करते है ।

(वि० स० २०१५ मृग० शु० ११-१२ बनारस सस्कृत महाविद्यालय)

१२ : समस्या—सरस्यामालस्यादिव पतति पाटीरपवनः

श्रमो विश्रामार्थी भवति यदिदानी प्रतिजन,
जना सर्वे खर्वं निदधतितमा गर्वमतुलम् ।
इय वृत्ति प्रादुर्भवति यदि वा चेतनजने,
सरस्यामालस्यादिव पतति पाटीरपवन ॥

आज श्रम मानो प्रत्येक मनुष्य मे प्रविष्ट होकर विश्राम करने की बात सोच रहा है। सब मनुष्य निकृष्ट कोटि का अतुलनीय गर्व कर रहे हैं। यदि चैतन्यमय मनुष्यो मे इस प्रकार की वृत्ति प्रकट हो रही है तो कहना होगा कि चन्दनवन का पवन सरोवर मे अलसाया हुआ-सा सुस्ता रहा है।

(वि० स० २०१५ मृग० शु० ११-१२ बनारस सस्कृत महाविद्यालय)

१३ : समस्या—न रजनी न दिवा न दिवाकरः

स्पृशति दृष्टिरियञ्च बहिर्जग-
त्तिमिरमस्ति तथेतरदस्ति च ।
स्पृशति दृष्टिरिय जगदान्तर,
न रजनी न दिवा न दिवाकर ॥

जब यह दृष्टि बहिर्जगत् का स्पर्श करती है तब उसे अधकार और प्रकाश—दोनो मिलते हैं। किन्तु जब वह अन्तर्जगत् का स्पर्श करती है तब वहा न रात है, न दिन है और न सूर्य।

(वि० स० २०१५ मृ० शु० ११-१२ बनारस सस्कृत महाविद्यालय)

\

१४ : समस्या—महाजनो येन गतः स पन्था :

जनो जनो येन गत स पन्था,
भवेदिद शाश्वतमस्ति सत्यम्।
तथापि लोकै विपरीतमुक्त,
महाजनो येन गत स पन्था ॥१॥

जन-जन जिस मार्ग से गया है, वही पथ है—यह शाश्वत सत्य है। फिर भी लोगो ने इसके विपरीत कहा है—'महाजन जिससे गया है, वही पथ है।'

महाजनो येन गतः स पन्था,
पुराणमुक्त खलु लभ्यतेऽद्य।
नवीनमुक्त भविताद्य भव्य,
राज्य श्रितो येन गत स पन्था ॥२॥

'महाजन जिससे गया है, वही मार्ग है'—यह प्राचीन उक्ति है। आज की नवीन बात यह होनी चाहिए कि सत्तारूढ व्यक्ति जिस मार्ग से गया है, वही मार्ग है।

(मद्रास सस्कृत कॉलेज—१७-११-६८)

१५ : समस्या—अस्ति स्तः सन्ति कल्पना.

सदा मे चचल चित्त,
चाचल्य नानुभूयते।
यदा ध्यानस्थितोऽह स्या,
अस्ति स्त सन्ति कल्पना ॥

जब मेरा चित्त चचल होता है तब मुझे चचलता की अनुभूति नही होती। जब मैं ध्यान-स्थित होता हू तब एक-दो-दस—सभी कल्पनाए आने लगती हैं।

(मद्रास सस्कृत कॉलेज—१७-११-६८)

१६ : समस्या—चन्द्रोदये रोदिति चक्रवाकी

भाग्योदयो भिन्नपदो विभाति,
सर्वत्र साम्य न हि तेन दृष्टम् ।
दृष्ट्वेन्दुमुत्साहपरोऽपर स्यात्,
चन्द्रोदये रोदिति चक्रवाकी ।।

सबका भाग्योदय एक-सा नही होता । उसमे विचित्रताए होती हैं । चन्द्रमा को देखकर कोई प्रसन्न होता है किन्तु चक्रवाकी उसको देखकर रोने लग जाता है ।

(बृहद् सस्कृत सम्मेलन, गगाशहर २९-१२-७१)

१७ : समस्या—कथं भवेद् नो जठराग्निशान्तिः

यस्यास्ति तृष्णा सुतरा विशाला,
स एव मा पृच्छति प्रश्नमेनम् ।
चित्र तत स्यादधिक किमत्र,
कथ भवेद् नो जठराग्निशान्ति ।।

जिस मनुष्य की तृष्णा बढी हुई है, वही मुझे यह प्रश्न पूछ रहा है कि पेट की आग कैसे बुझे । इससे अधिक विस्मय और क्या होगा ?

(बृहद् सस्कृत सम्मेलन, गगाशहर २९-१२-७१)

तृतीयो विभागः

समस्यापूर्तिः

१ : समस्या—मणे ! भावी तूर्णं पुनरपि तवातुच्छमहिमा

भुजगाना शीर्षे निवसति च यद्यप्यनुदिन,
तथापि त्व तेषा गरलमतुल लोप्तुमगदम् ।
स्वकीये नौचित्ये स्फुरति न हि रागो ध्रुवमतौ,
मणे ! भावी तूर्णं पुनरपि तवातुच्छमहिमा ॥१॥

हे मणे ! तुम रात-दिन सर्प के मस्तक मे निवास करती हो, फिर भी तुम उसके घोर विष को नष्ट करने के लिए औषध हो। अपने अनौचित्य (सर्पदश द्वारा प्रयुक्त विष) के प्रति भी तुम्हारा पक्षपात नही है। इसीलिए हे मणे ! तुम्हारी पुन अतुल महिमा होगी।

महामूल्य रत्न कथमपि च निन्ये जडमति-
रजानंस्तत्कान्ति वत ! विपदमापद्य चरति।
गृहीत्वा तत्कश्चित् कुशलमतिरेव द्रुतमवक्,
मणे ! भावी तूर्णं पुनरपि तवातुच्छमहिमा ॥२॥

एक बार महामूल्य रत्न किसी मूर्ख के हाथ लग गया। वह उसकी कान्ति को नही जानता हुआ दु खावस्था मे घूम रहा था। एक कुशलमति वाले व्यक्ति ने उसी रत्न को प्राप्त कर कहा—मणे ! अब तुम्हारी पुन अतुल महिमा होने वाली है।

(वि० स० १९९८ पौष—राजलदेसर)

२ : समस्या—किं तया किं तया किं तया किं तया ?

स्वीकृता साधुता भूरि शिक्षा श्रिता,
विप्लुति प्रोज्झिता सयता वाक् परम्।
यावदाध्यात्मिक ज्ञानमायाति न,
किं तया किं तया किं तया किं तया ? ॥१॥

साधुता को स्वीकार किया, विपुल ज्ञान प्राप्त किया, चचलता को छोडा और वाणी को सयत बनाया, किन्तु जब तक आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त नही होता तब तक साधुता प्राप्त करने से क्या ? विपुल ज्ञान प्राप्त करने से क्या ? चचलता को छोडने से क्या ? और वाणी को सयत बनाने से क्या ?

अम्बरे स्थायिकोत्पत्तिरम्भोनिधौ,
धिष्ण्यकाच्छादिनी शक्तिरुर्ध्वगति ।
चेज्जल दास्यते नो त्वया वारिद !,
किं तया किं तया किं तया किं तया ? ।।२।।

हे मेघ ! तुम अम्बर मे रहते हो। तुम्हारी उत्पत्ति समुद्र मे हुई है। तुम्हारे मे सूर्य को ढकने की शक्ति है। तुम ऊची गति करने वाले हो। इतना होने पर भी यदि तुम नही बरसते, तो अम्बर मे रहने से क्या ? समुद्र से उत्पन्न होने से क्या ? सूर्य को ढकने की शक्ति से क्या ? और ऊची गति करने से क्या ?

(वि० स० १९९८ पौष—राजलदेसर)

३ : समस्या—कथं कान्ते दान्ते गलितवदनाभा नववधूः ?

वसन्ते साम्राज्य कलयति कलावत्यनुपद,
यदुच्छ्वासा गुच्छा मधुररसलीलार्पणपरा ।
तरो ! त्वय्येतादृक्फलवति जने चापि कलिका,
कथ कान्ते दान्ते गलितवदनाभा नववधू ? ।।१।।

कलावान् वसन्त पग-पग पर अपना साम्राज्य डाले हुए है। चारो ओर मधुर रस की लीला मे अर्पित उच्छ्वास उछल रहे हैं। हे वृक्ष ! तुम्हारे जैसे फलवान्, कान्त और दान्त पदार्थ के प्रति भी यह कलिका रूपी नववधू म्लानमुख क्यो हो रही है ?

प्रतीची नाप्नोति प्रणयसविताऽस्मन्निलयगो,
न चेर्ष्याप्रालेय पतति सुमतिच्छन्नवसतौ ।

व्युदास्याब्जच्छायामुपमितिपटु व्यर्थकमसौ,
कथ कान्ते दान्ते गलितवदनाभा नववधू ? २॥

पति ने ऐसा सोचा कि हमारे घर मे निवास करने वाला प्रेम-सूर्य कभी अस्त नही होता और सुमति सेआच्छन्न इस वसतिमे ईर्ष्या का हिम कभी नही गिरता। उपमा पटु कमल की कान्ति को छोडकर यह नववधू अपने दात और कात प्रियतम के प्रति व्यर्थ ही म्लानमुख क्यो हो रही है ?

रस शान्तो यस्य स्पृशति हृदयाम्भोजकलिका,
न कामानाशसेत् क्वचिदपि न चेतश्चपलयेत्।
न तस्यैतत्तत्त्व भवति खलु शोध्य कथमपि,
कथ कान्ते दान्ते गलितवदनाभा नववधू ? ॥३॥

जिस व्यक्ति के हृदय-कमल की कलिका को शान्त रस स्पृष्ट करता है, जो कामनाओ की आशसा नही करता और जिसका मन चपल नही है, ऐसे व्यक्ति के लिए यह तथ्य अन्वेपणीय नही होता कि नववधू अपने दात और कान्त प्रियतम के प्रति म्लान-मुख क्यो हो रही है ?

(वि० स० २००३ पौप शुक्ला ३ तारानगर)

४ समस्या—कथं धीर धीर ध्वनति नवनीलो जलधर ?

नदी पत्युर्वेश्म प्रणयति रणन्नूपुररवा,
क्षितेर्दूर्वाशाटी रचयति लसन्मौक्तिककणाम्।
तथाप्येव शून्याश्रय इव ददज्जीवनमपि,
कथ धीर धीर ध्वनति नवनीलो जलधर ? ॥१॥

मेघ कल-कल करती हुई नदी को समुद्र की ओर प्रेरित करता है और मुक्ताकण की आभावाली दूर्वा की शाटी से सारी पृथ्वी को सज्जित करता है। वह सबको जीवन देता है, फिर भी वह आश्रय-विहीन व्यक्ति की भाति नवीन नीली आभा वाला मेघ धीरे-धीरे क्यो गर्ज रहा है ?

तपाक्रान्ता नद्य शिथिलनिनदाश्चातककुल,
तृषाक्लेशान् मन्द रटति सुवदानाब्दसुहृद ।
भवेच्चेत्तद् युक्त परमुदकपूर्णोदरदरि
कथ धीर धीर ध्वनति नवनीलो जलधरः ? ।।२।

आतप से आक्रान्त सरिताओ की कलध्वनि शिथिल हो रही है, तृषा से आकुल चातक कुछ मन्द-मन्द वोल रहा है। मयूर की केका कुठित हो रही है। यह सव समझ मे आनेवाला है। परन्तु जल से लवालव भरा हुआ यह नवीन नीली आभा वाला मेघ धीरे-धीरे क्यो गर्ज रहा है ?

कथ धीर धीर ध्वनति नवनीलो जलधर ?
न विद्यात् ग्रीष्मो मामिति कलनया साम्प्रतमहो।
स्फुरद्विद्युद्दीप्र वियति विहरन्त स्फुटममु,
स दृष्ट्वा तत्काल विरहिहृदय त्राणमनयत् ।।३।।

ओह ! नवीन नीली आभा वाला मेघ अव धीरे-धीरे गर्जन कर रहा है! कही उसे ग्रीष्म जान न ले। किन्तु वह स्वय चमचमाती विजली से दीप्त है, वहुत ऊपर आकाश मे चल रहा है—ऐसी स्थिति मे वह अपने आपको कैसे छिपा सकता है ? ग्रीष्म ने उसे स्पष्ट देखा और अपने प्राण वचाने के लिए तत्काल वह विरही व्यक्ति के हृदय मे जा वैठा।

अरे ! क्वासि क्वासि प्रकटय तनु वारिदवर!,
सदा स्फारैर्जात कृपिनयनमित्थ सलिलमुक् !
किमेतन्नो ज्ञात तव विशदवृत्तेर्मरुरय,
कथ धीर धीर ध्वनति नवनीलो जलधर ? ।।४।।

मेघ ! तुम कहा हो, तुम कहा हो ? तुम अपने आपको प्रकट करो। इस प्रकार तुम्हारी प्रतीक्षा मे कृपक की खुली आखे जल वहाने लग गई। क्या तुम्हारे जैसे निर्मल वृत्तिवाले को इतना भी पता नही है कि यह मरुस्थल है ? फिर क्यो यह नवीन नीली आभा वाला मेघ धीरे-धीरे गर्जन कर रहा है ?

अहो ! शून्ये लव्धु तत इत इवौज्ज्वल्यपदवी,
कथ धीर धीर ध्वनति नवनीलो जलधर ?

समेषामालिन्य व्यपनयननैपुण्यमहितो,
महामान्यो मह्या लपति तुलसीराममुनिप ॥५॥

अहो ! नवीन नीली आभावाला यह मेघ शून्य मे उज्ज्वल स्थान को पाने के लिए इधर-उधर घूमता हुआ मन्द-मन्द ध्वनि कर रहा है। क्योकि वह जानता है कि सभी प्राणियो की मलिनता को दूर करने मे निपुण और जनता द्वारा पूजित, महामान्य आचार्य तुलसी इस पृथ्वी पर रह रहे हैं।

(वि० स० २००३ पौष शुक्ला ३ तारानगर)

५ : समस्या—मोदन्ते मुनयो मनोबलजुषः कष्टेष्वनेकेष्वपि

आसक्ति स्वपदानवस्थितिभयान्नासक्तिमालिंगति,
शैथिल्य शिथिल मनश्चपलता जाता स्वय चञ्चला।
क्रोध क्रुद्ध इवावलिप्त इव वा मानो न यान् मानयेद्,
मोदन्ते मुनयो मनोवलजुष कष्टेष्वनेकेष्वपि ॥१॥

आसक्ति स्वय अपनी अवस्थिति के डावाडोल होने के भय से जिनमे आसक्त नही होती, जिनके पास पहुचकर शैथिल्य स्वय शिथिल हो जाता है, मन की चपलता स्वय चचल हो जाती है, और क्रोध क्रुद्ध तथा मान स्वय गर्वित होकर जिन्हे सम्मान नही देता, ऐसे मनोवली मुनि अनेक कष्टो के आ जाने पर भी प्रसन्न रहते हैं।

स्वातन्त्र्य गुरुशासन गुरुतर शक्तिस्तप प्रोत्कट-
मौदासीन्यपरपरासुखमहो चेतोवरोधो जय ।
किं चित्र सकलेपि कर्मणि जनादेव कृतव्यत्यया,
मोदन्ते मुनयो मनोवलजुप कष्टेष्वनेकेष्वपि ॥२॥

मनोवली मुनि अनेक कष्टो के आने पर भी प्रसन्न रहते हैं क्योकि उनका आचरण जनसाधारण से विपरीत होता है। वे गुरु के अनुशासन को स्वतन्त्रता, प्रकृष्ट तपस्या को शक्ति, औदासीन्य परम्परा (अनासक्ति) को सुख और अपने मन के विरोध को विजय मानते हैं।

कष्टाना प्रतिपत्तिरस्त्यविकला ज्ञान यथार्थ पुन-
र्मोदन्ते मुनयो मनोवलजुप कष्टेष्वनेकेष्वपि।
तत्त्वज्ञानमतत्त्वत किमु न तान् कुर्वीत मिथ्यात्विनोऽ-
तत्त्वे तत्त्वमतिर्यदुक्तमिह चेद् मिथ्यात्वग लक्षणम् ॥३॥

मुनि-जीवन मे कष्ट आते हैं। उनका उन्हे सही ज्ञान भी होता है। फिर भी वे मनोवली मुनि अनेक कष्टो के आने पर प्रसन्न रहते हैं। यदि वे आने वाले कष्टो को कष्ट न मानें तो क्या अतत्त्व से उत्पन्न उनका तत्त्वज्ञान उन्हे मिथ्यात्वी नही बना देता ? क्योकि सिद्धान्त की भाषा मे कहा जाता है कि अतत्त्व मे तत्त्व की बुद्धि मिथ्यात्व का लक्षण है।

मोदे कष्टविधायिनो विमतयो जीवन्ति नैके जना,
सूर्यश्चन्द्रमस रविं हिमकर किं वान्यथाऽनुव्रजेत् ।
चित्र चित्रमिद परार्थकुशला कष्टेपि मोदप्रदा,
मोदन्ते मुनयो मनोवलजुप कष्टेष्वनेकेष्वपि ॥४॥

सुख मे दु ख उत्पन्न करने वाले विपरीत मति वाले व्यक्ति एक नही, अनेक हैं। अन्यथा सूर्य चन्द्रमा का और चन्द्रमा सूर्य का पीछा क्यो करता ? यह आश्चर्य है कि परोपकार करने मे निपुण और दु ख मे सुख देने वाले मनोवली मुनि अनेक कष्टो के आने पर भी प्रसन्न रहते हैं।

मोदन्ते मुनयो मनोवलजुषः कष्टेष्वनेकेष्वपि,
बुध्वाऽह छिदितापताडनविधौ प्राप तितिक्षा पराम्।
अज्ञास्य यदि वा शिलाशकलतो नून परीक्षा मम,
गुजाभि सह तोलन च भविताऽधक्ष्य कृशानौ निजम् ॥५॥

स्वर्ण ने कहा—मनोवली मुनि अनेक कष्टो के आने पर भी प्रसन्न रहते हैं—यह जानकर छेदन, तापन और ताडन की विधि से गुजरते हुए भी मैंने परम तितिक्षा रखी। यदि मुझे यह ज्ञात होता कि शिला के टुकडे पर मेरी परीक्षा होगी और गुजाओ के साथ मुझे तोला जाएगा तो मैं उसी समय अग्नि मे गिरकर अपने को जला डालता।

(वि० स० २००४ पौष शुक्ला ४ सुजानगढ)

६ : समस्या—गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम्

हिमांशो खत्वेपा किमिव हरिणे प्रीतिरुचिता,
तमस्विन्या सार्धं विहरणमपि प्राप्तकलुषम् ।
रवि स्व क्रूरत्व त्यजति वत ! नाप्यत्र कुपितो,
गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम् ॥१॥

सूर्य ने सोचा—क्या चन्द्रमा की हिरण के साथ यह प्रीति उचित है ? उसका रात्री के साथ घूमना भी कलुषित है। यह सोचकर सूर्य कुपित हो गया किन्तु वह अपनी क्रूरता को छोडने के लिए तैयार नही हुआ। यह सच है कि पर्वत पर लगी आग दीखती है, पर पैरो के तलो मे लगी आग नही दीखती।

अहो ! शून्यप्रेमो प्रकृतिचपल श्यामलतनु-
स्तडित्पाती याञ्चापटुरपि घनोऽस्थायिविभव ।
भुवस्ताप पाप मनसि विनिवेश्य स्तनति यद्,
गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम् ॥२॥

आश्चर्य है कि बादल शून्य-प्रेमी है। वह प्रकृति से चपल है। उसका शरीर काला है। वह विजली को गिराता है। वह याचना करने मे निपुण है। उसकी सारी सपदा अस्थिर है। वह पृथ्वी के एकमात्र दोप—ताप को ध्यान मे लाकर गर्ज रहा है। यह सच है कि पर्वत पर लगी आग दीखती है, पर पैरो के तलो मे लगी आग नही दीखती।

कियल्लोल चेत कियदथ चल शाखिकिसल,
स्थिरो नाय वातस्त्विति चपलवीक्षेङ्घटिके !
चिर मा स्थाः कालो विहरति कुहासौ तव पिता,
गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम् ॥३॥

घटिका ने कहा—'यह चित्त कितना चचल है। सामने खडे वृक्ष का यह पत्ता चचल है। यह वायु भी स्थिर नही है'—इस प्रकार दूसरो की चचलता की चर्चा मे लीन घडी की सूई अटक गई। तब कवि ने कहा—ओ ! दूसरो की चपलता देखने वाली घडी ! तुम एक स्थान पर मत रुको। देखो, तुम्हारा पिता काल कितनी चपल गति से चला जा रहा है। यह सच है कि पर्वत पर लगी आग दीखती है, परन्तु पैरो के तलो मे लगी आग नही दीखती।

अदृश्ये दृश्यत्व स्फुरति न च चित्र तदिद,
न वा सूक्ष्मस्याणोर्नयनविषयत्व प्रति यते ।
पर दृश्येऽप्यन्ध क्वचनचतुरो दृष्टिविसरो,
गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम् ॥४॥

इसमे कोई आश्चर्य नही है कि अदृश्य मे भी दृश्य की स्फुरणा होती है। इसमे भी कोई आश्चर्य नही कि सूक्ष्म अणु को दृष्टिगोचर करने का मैं प्रयत्न नही करता हू। पर कही-कही दृश्य विषय मे भी यह दृष्टि का चतुर विस्तार अन्धा हो जाता है। यह सच है कि पर्वत पर लगी आग दीखती है परन्तु पैरो के तलो मे लगी आग नही दीखती।

अहो! ज्योतिस्ताप नयति वत मामित्यतिलपन्,
जल नात्मस्थान परवशगत पश्यतितमाम् ।
किमग्नेर्विध्यातुर्भवतु गतिरेपा परमिह,
गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम् ॥५॥

एक बार पानी ने कहा—देखो, आग मुझे तपा रही है। ऐसे कहते हुए पानी ने यह नही देखा कि वह स्वय अभी परवश है, अर्थात् पात्रगत है। क्या अग्नि को बुझाने वाले पानी की यह दशा हो सकती है? यह सच है कि पर्वत पर लगी आग दीखती है परन्तु पैरो के तलो मे लगी आग नही दीखती।

गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदित,
यदुद्योगादीर्यारतगतिमुनीना समभवत् ।
महामान्य सश्रीतुलसीमुनिराज प्रथयतु,
स्वशिष्यान्निशेपान् गुणगणसमादाननिपुर्णान् ॥६॥

ईर्या समिति मे रत मुनियो ने प्रयत्न किया और यह जान लिया कि पैरो में लगी आग दीख पडती है किन्तु पर्वत पर लगी आग नही दीखती। महामान्य तुलसी अपने सभी शिष्यो को गुण-ग्रहण करने में निपुण वनाए।

खल! त्व किं चूर्णप्रवण इति पृष्टस्त्रिफलया,
कठोरा रूक्षासि प्रकृतिसदृशोप्येवमवदत् ।
अहो! सत्य सत्य कविकुलकिरीटैरभिहित,
गिरेर्दाहो दृश्यो न च पदतलस्येति विदितम् ॥७॥

त्रिफला ने खरल से कहा—अरे ! तुम चूर्ण बनाने में इतनी निपुण क्यो हो ? इसके उत्तर में त्रिफला की समान प्रकृति वाले खरल ने कहा—तुम कठोर और रूक्ष हो इसलिए मैं ऐसा करता हू। त्रिफला ने कहा—अहो ! कवियो ने जो कहा वह सच है कि पर्वत पर लगी आग दीखती है पर पैरो के तलो में लगी आग नही दीखती। (तुम अपने आपको देखो, कितने कठोर और रूक्ष हो।)

(वि० स० २००४ पौष शुक्ला ४, सुजानगढ)

७ : समस्या—सिन्दूरबिन्दुर्विधवाललाटे

सिन्दूरबिन्दुर्विधवाललाटे,
गगाम्बुगौरे कृतविद्रुमेर्ष्यं ।
स्व रक्तिमान नयने मुखेपि,
द्रष्टु स्मय किं प्रतिबिम्बयेत्तत् ।।१।।

गगा के पानी की तरह गौर विधवा के ललाट पर मूगे से भी अधिक लाल सिन्दूर का विन्दु है। उस विन्दु ने अपनी रक्तिमा, देखने वाले के नयन और मुख मे, प्रतिविम्बित कर दी हो, इसमे आश्चर्य ही क्या है ? अर्थात् विधवा के ललाट पर सिन्दूर का विन्दु देखकर कोई क्रोध से लाल-पीला हो जाए—इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

सिन्दूरविन्दुर्विधवाललाटे,
नेय समस्याप्यधुना समस्या ।
वैज्ञानिकेस्मिन् समये न जाने,
वैधव्यमेवापि पलायित क्व ।।२।।

विधवा के ललाट पर सिन्दूर की विन्दु है—यह समस्या आज समस्या नही है। क्योकि इस वैज्ञानिक युग मे न जाने वैधव्य कहा पलायन कर चुका है।

यादृग् विचारो मनसाकित स्या-
त्तादृग् जन पश्यति चक्षुषापि ।

सिन्दूरबिन्दुर्विधवाललाटे,
प्रत्यक्षमत्र प्रबल प्रमाणम् ॥३॥

मन मे जैसा विचार अकित होता है, आखो से मनुष्य वैसा ही देखता है। इसका प्रत्यक्ष और प्रबल प्रमाण है—विधवा के ललाट पर लगा हुआ सिन्दूर का लाल बिन्दु।

पत्युर्वियोगाश्रुसरित्प्रवाह-
प्रक्षालिते वर्ष्मणि नैकशोऽपि।
स्वेदोदबिन्दुद्रविते क्व कल्प्य,
सिन्दूरबिन्दुर्विधवाललाटे ॥४॥

पति के वियोग के कारण पत्नी की आखो से आसुओ की नदी बह रही है। अनेक बार उसके प्रवाह से सारा शरीर प्रक्षालित हो रहा है और पसीने की बूदो से भी वह द्रवित हुआ है। ऐसी स्थिति में यह कल्पना कैसे की जा सकती है कि विधवा के ललाट पर सिन्दूर का बिन्दु है ?

सिन्दूरबिन्दुर्विधवाललाटे,
न केन साक्षेपमपेक्षितोस्ति ?
भाले स्वकेऽन्यायविजृम्भिबिन्दु-
र्न केन साक्षेपमुपेक्षितोस्ति ? ॥५॥

विधवा के ललाट पर सिन्दूर का बिन्दु है—इसको आक्षेप-सहित किसने नही देखा ? अपने स्वय के ललाट पर अन्याय का बिन्दु विकसित हो रहा है, फिर भी किस व्यक्ति ने आक्षेपपूर्वक इसकी उपेक्षा नही की ?

[वि० स० २००५ कातिक कृष्णा ७, छापर]

८ : समस्या—मेघे वर्षति वेगवाहिनि कथं दौर्भिक्ष्यसंभावना?

मेघे वर्षति वेगवाहिनि कथ दौर्भिक्ष्यसभावना ?
कुब्जो दातृकर स्वदक्षिणपथे शक्ति न चालोकयन् ।
वामे शक्तिरवातरत् परमसौ वामश्चरेत्तत्कथ,
द्वन्द्व पाणिगत प्रसारमनयद् बुद्धावपि प्रायश ॥१॥

वेगवान् मेघ के वरसने पर दुर्भिक्ष की सम्भावना कैसे हो सकती है ? अपने दक्षिण मार्ग को शक्तिहीन होता देखकर दान देने वाला हाथ कुब्ज हो गया। सारी शक्ति वाम मार्ग मे अवतीर्ण हो गई, पर वाया हाथ दान कैसे दे सकता है ? हाथो का यह द्वन्द्व प्राय मनुष्यो की वुद्धि में भी समा गया है। इसलिए वेगवान् मेघ के होने पर भी दुर्भिक्ष सम्भव हो रहा है।

मेघे वर्षति वेगवाहिनि कथ दौर्भिक्ष्यसभावना ?
मर्यादाक्रमण कृत जलमुचा कूलकषाभिस्तथा।
दृष्ट्वैता स्वपितु क्रियामनुचिता धान्यैश्च लज्जानतै-
रात्मानो जहिरे तत कथमसौ प्रश्नो घटा प्राञ्चति ?॥२॥

वेगवान् मेघ के वरसने पर दुर्भिक्ष की सम्भावना कैसे हो सकती है ? किन्तु जब बादल ने वरसने में मर्यादा का अतिक्रमण किया तो नदियो मे बाढ आ गई और तव उन्होंने भी मर्यादा का उल्लघन कर डाला। उगे हुए धान्यो ने अपने पिता-माता (वादल और नदी) का यह अनुचित कार्य देखा। तव लज्जा से नत होकर उन्होने अपने आप का त्याग कर दिया, वे नष्ट हो गए। इसलिए यह प्रश्न कि मेघ के वरसने पर दुर्भिक्ष नही होता, उचित नही है।

मेघे वर्षति वेगवाहिनि कथ दौर्भिक्ष्यसभावना ?
ज्ञात नेत्यपि किं प्रणालिरियक पूर्णा प्रजातन्त्रिणी ।
भूवातातपनादय परिपद सर्वे सदस्या अमी,
दास्यन्ते किल काञ्च सम्मतिमिद तत्त्व न विद्मो वयम् ॥३॥

वेगवान् मेघ के वरसने पर दुर्भिक्ष की सम्भावना कैसे हो सकती है ? किन्तु क्या तुमने यह नही जाना कि (दुर्भिक्ष होना या सुभिक्ष होना) यह सारा पूर्ण प्रजातन्त्र प्रणाली पर आधारित है। इस प्रजातन्त्र परिषद् के सदस्य हैं—भूमि,

वायु और आतप। ये अपना मत किसको (सुभिक्ष को या दुर्भिक्ष को) देंगे, यह हम नही जानते।

[वि० स० २००५ पौष शुक्ला ५, छापर]

६ : समस्या—कियच्चित्र वाग्मी भवति बत! मूकोऽपि मनुजः

कियच्चित्र वाग्मी भवति बत ! मूकोऽपि मनुज,
स्वकश्लाघाकाले वितथवचनेष्वन्धनयन ।
निरुद्धा स्याद् वाणी परगुणकथाया न विदित,
क्व दोषो जिह्वाया दति मनसि वा को भिपगऽहो ॥१॥

कितने आश्चर्य की बात है कि मनुष्य अपनी झूठी प्रशसा करने मे अन्धा होकर, मूक होता हुआ भी वाचाल हो जाता है। दूसरो की प्रशसा करने मे उसकी वाणी रुक जाती है। न जाने यह दोप जिह्वा मे है या दातो मे या मन मे ? आश्चर्य है, इसका चिकित्सक कौन हो सकता है ?

कियच्चित्र वाग्मी भवति बत ! मूकोऽपि मनुज,
क्वचिल्लोके प्रेयान् ध्रुवमवसरोऽनेकचरण ।
स्वके दोषेऽदोषे प्रियति परिपाट्याप्यपरथा,
परेषा स्याद्वाद स्फुरति सकलायामपि दिशि ॥२॥

यह कितना आश्चर्य है कि मनुष्य मूक होता हुआ भी वाचाल हो जाता है। इस ससार मे अनेक गतियो से चलने वाला अवसर ही प्रिय होता है। मनुष्य अपने दोप और अदोप—दोनोमे राग रखता है और दूसरो के दोष और अदोष—दोनो मे द्वेप रखता है। लगता है सभी दिशाओ मे स्याद्वाद स्फुरित हो रहा है।

कियच्चित्र वाग्मी भवति बत ! मूकोऽपि मनुज,
चिकित्सावैविध्य विविधपरिणामाश्च तनव ।
तदेतच्चित्र स्यात् परममिह वाचामधिपति-
र्भवन्नर्थी तत्र स्खलितवचनोऽसन्नुतिविधौ ॥३॥

मूक मनुष्य भी वाचाल हो जाए इसमें कितना आश्चर्य हो सकता है क्योंकि आज के युग मे चिकित्सा की विविधता है और विविध परिणतियों वाले शरीर हैं। आश्चर्य यह हो सकता है कि वाणी पर अधिकार रखने वाले व्यक्ति भी किसी वस्तु के प्रार्थी होकर स्वार्थवश असद् बात का विरोध करने मे रुक-रुक-कर बोलते हैं, या मौन हो जाते हैं।

ममाय सन्नेताऽप्रतिहतगतिश्चेति मरुतो,
घन प्रोच्चैर्गच्छन् कथयति कथा वक्त्रविकल।
लसत्कीर्त्ति लब्ध्वा सुगुरुमथ किं भक्तिभरित,
कियच्चित्र वाग्मी भवति बत! मूकोऽपि मनुज ॥४॥

बादल ऊचे आकाश मे चलता हुआ मुख से विकल होते हुए भी गर्जन के द्वारा अपनी यह बात कह रहा है कि अप्रतिहत गति वाला पवन मेरा नेता है, मुझे ले जाने वाला है। किन्तु यह कितना आश्चर्य है कि कीर्तिमान् सुगुरु को पाकर भक्ति से भरा हुआ वाचाल शिष्य भी (गुरु-श्लाघा करने में) मूक हो जाता है।

धनी विद्वद्गोष्ठ्यामपि तदधिपत्व विरचयन्,
कियच्चित्र वाग्मी भवति बत! मूकोऽपि मनुज।
सवर्णे वाग्मित्व भवति खलु मिथ्याश्रुतिरिय-
मथो कश्चिच्चोर प्रथमतदकारञ्च हृतवान् ॥५॥

एक धनी व्यक्ति विद्वानो की गोष्ठी मे गया और वहा का अध्यक्ष बनकर मूक होते हुए भी (कुछ न जानते हुए भी) वाचालता करने लगा। यह कितना आश्चय है? जो यह कहा जाता है कि सवर्ण (विद्वान्) मे वाक्पटुता होती है, यह मिथ्याश्रुति है। अथवा किसी चोर ने उस (स्वर्ण) के प्रथम अकार को चुरा लिया, अत वह वाग्मिता (स—अ+वर्ण=स्वर्ण) स्वर्ण मे अधिष्ठित हो गई।

[वि० स० २००५ पौष शुक्ला ५, छापर]

१० : समस्या—ब्राह्मणस्य महत्पापं, संध्यावंदनकर्मभिः

ब्राह्मणस्य महत्पाप,
सध्यावदनकर्मभि ।
सरुष्ट जातिरागेण,
तिमिरे स्व व्यलीयत ॥१॥

ब्राह्मण के महान् पाप ने सध्या-वदन कर्म से रुष्ट होकर जातीय अनुराग के कारण अपने आपको तिमिर मे विलीन कर दिया।

ब्राह्मणस्य महत्पापं,
सध्यावदनकर्मभि ।
च्युत सम्मानमालब्ध,
चित्र राज्ये द्विजेशितु ॥२॥

ब्राह्मण का महान् पाप सध्या-वदन कर्म से च्युत होकर चला। अन्य किसी ने उसे सम्मान नही दिया। आश्चर्य है कि चन्द्रमा के राज्य मे उसे सम्मान प्राप्त हो गया।

(वि० स० २००५ कार्तिक कृष्णा ७, छापर)

११ : समस्या—साम्यं काम्यं प्रकृतिरुचिरं क्वापि वक्रं विभाव्यम्

साम्य काम्य प्रकृतिरुचिर क्वापि वक्र विभाव्य,
मार्गाभावे प्रकृतिकुटिला निम्नगाभून्नदीयम् ।
वक्र काम्य प्रकृतिरुचिर क्वापि साम्य विभाव्य,
रन्ध्रे वेष्टु ऋजुगतिरहो रत्नवानेष दर्वी ॥१॥

निसर्गत. जो मनोहर है वह साम्य अच्छा लगता है, किन्तु कही-कही वक्रता भी आवश्यक होती है। सरल सीधी बहने वाली नदी मार्ग के अभाव मे वक्र और

नीचे वहने लग जाती है। निसर्गत वक्र भी अच्छा लगने लगता है और कही-कही साम्य भी आवश्यक हो जाता है। सदा वक्र गति करने वाला मणिधर सर्प बिल मे प्रवेश करते समय सीधा-सरल हो जाता है। अत समता और वक्रता अपने-अपने स्थान मे अच्छी लगती है।

निद्राया वा तमसि विपुले चक्षुषोश्चाप्यभावे,
भेदाभावो भवति सुतरा तेन कोर्थ प्रसिद्ध्येत्।
किं वा भ्रश्येद् विपरियति तत्तेन नैकान्तवाद,
साम्य काम्य प्रकृतिरुचिर क्वापि वक्र विभाव्यम् ॥२॥

निद्रा, सघन अन्धकार और नेत्र के अभाव मे सर्वत्र अभेद प्रतीत होता है। किन्तु इससे कौन-सा अर्थ सिद्ध होता है ? इसी प्रकार इनके विपरीत जागरण, प्रकाश और नेत्र के अस्तित्व मे कौन-सी हानि होती है ? इसलिए यह एकान्त सत्य नही है कि समता ही काम्य है और वक्रता अकाम्य या वक्रता ही काम्य है और समता अकाम्य।

(वि० स० २००७—हिसार)

१२ : समस्या—सीदन्ति सन्तो विलसन्त्यसन्त

सत्य कटुत्व तव वारिराशे !,
रत्नानि नीचैश्चरणे दधासि।
मूर्धन्यन्तानि तृणानि हन्त !,
सीदन्ति सन्तो विलसन्त्यसन्त ॥१॥

हे समुद्र ! तुम्हारे लिए यह कटु सत्य है कि तुम रत्नो को नीचे—तल मे रखते हो और अपने ऊपर—सतह पर तृणो को धारण करते हो। हा, यह सत्य है कि इस युग मे सज्जन व्यक्ति दु ख पाते हैं और दुर्जन व्यक्ति सुखी रहते हैं।

तनूनपात कणिका प्रदीपे,
स्नेहञ्च वर्तिञ्च नयेत नाशम्।

अधस्तमिस्र कुरुते निषद्या,
सीदन्ति सन्तो विलसन्त्यसन्त ।।२।।

दीपक मे रही हुई अग्नि की एक कणिका भी तेल और बाती का नाश कर डालती है। उसके नीचे अन्धकार आनन्द से बैठा रहता है। यह सच है कि सज्जन व्यक्ति दु ख पाते हैं और दुर्जन व्यक्ति सुखी रहते हैं।

सीदन्ति सन्तो विलसन्त्यसन्तो,
दोष सतामेष वितर्कणीय ।
न चाचरन्तोपि खलत्वमत्र,
प्रसादयत्न न च ते त्यजन्ति ।।३।।

सज्जन व्यक्ति दु ख पाते हैं और दुर्जन व्यक्ति सुखी रहते हैं। सज्जन व्यक्तियो का यह दोष चिन्तनीय है कि वे कभी दुर्जनता का आचरण नही करते और अपनी सज्जनता को कभी नही छोडते।

सीदन्ति सन्तो विलसन्त्यसन्त,
किमत्र चिन्त्य बहु पडितेन ।
मताधिकारस्य युगे बहुत्व,
सतामशेषा निजकीकरोति ।।४।।

सज्जन व्यक्ति दु ख पाते हैं और दुर्जन व्यक्ति सुख से रहते हैं—इसमे पडित व्यक्ति को ज्यादा क्या सोचना है ? यह मताधिकार का युग है। बहुमत सारी सत्ता को अपने हाथ मे कर लेता है। तात्पर्य है कि आज के युग मे सज्जन कम हैं और दुर्जन अधिक।

(वि० स० २००७—हिसार)

१३ समस्या—विषममसिधाराव्रतमिदम्

परान्नीत्वा शेष क्षणमिह नयेत् कश्चिदुदय,
नयेदन्ते तेज परिणतिमल कालिमनि तत् ।
कृशानोस्तज्ज्योति किमिति समिधामन्तललित,
तदाप्त स्वोत्सर्गैविषममसिधाराव्रतमिदम् ॥१॥

कोई पुरुष दूसरो का अन्त कर स्वय उदय को प्राप्त होता है, किन्तु अन्त में उस तेज की परिणति कालिमा मे होती हैं। ईंधन का अन्त कर चमकने वाली अग्नि की ज्योनि का अन्तिम परिणाम कालिमा है, राख है । जो तेज स्वय के उत्सर्ग—बलिदान से प्राप्त होता है, वह वस्तुत कठोर असिधाराव्रत है।

बृहद्भानोस्तापे तपति नवनीत त्विति न न,
न तापेऽपि स्नेह त्यजति तदिद विस्मयकरम् ।
परस्यातापेनातपति हृदयालु प्रतिपल,
स्वलभ्यो मूल्यस्तद् विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥२॥

किसी ने कहा—देखो, अग्नि के ताप से नवनीत तप जाता है। दूसरा मित्र बोला—नही, यह कोई विस्मय की बात नही है। विस्मय की बात यह है कि वह तप्त होने पर भी अपने स्नेह को नही छोडता। हृदयालु पुरुष दूसरे के आतप—कष्ट मे स्वय तप्त होता है, पीडित होता है, किन्तु अपने स्नेह को नही छोडता। यह उसका अपना मूल्य है। यथार्थ मे यह कठोर असिधाराव्रत है।

मलानामावासो वपुरिति मुहुश्चिन्तितमल,
क्षण सौख्य दु ख बहु तदपि बुद्ध्याभ्युपगतम् ।
न चैतावच्चिन्ताकणनिचयवार्यो हि विषम-
शरस्तेन प्रोक्त विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥३॥

मैंने बहुत बार यह चिन्तन किया है कि यह शरीर मलो का आवास-स्थल है और मैंने बुद्धि से यह भी स्वीकार कर लिया कि सुख-दु ख क्षणिक हैं, किन्तु इतने चिन्तन कणो से ही कामदेव को नही रोका जा सकता। इसीलिए यह कहा गया है कि काम पर विजय पाना कठोर असिधाराव्रत है।

विदन्तो ब्रह्मान्त विषममसिधाराव्रतमिद,
वदन्तो ब्रह्मेद विषममृतधाराहितमपि।

असत्यं तज्ज्ञानं कथनमथवा नो फलति यद्,
गतौ नित्यालस्यं सहजरुचिराहारविषये ।।४।।

जो लोग जानते हैं कि ब्रह्मचर्य कठोर असिधाराव्रत है और जो लोग कहते हैं कि यह ब्रह्मचर्य अमृतधारा से आहित होने पर भी विष जैसा है, वह ज्ञान और कथन असत्य है। गति में नित्य आलस्य है और आहार के प्रति सहज आकर्षण है, तब ब्रह्मचर्य फलित कैसे हो ?

(वि० सं० २००७ चातुर्मास, हांसी)

१४ : समस्या—कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा,
यस्यात्यन्तं प्रकृतिविजयो यस्य नास्त्येव किञ्चित्।
लाभालाभे भवति समता तस्य किन्नाम दुःखं,
रक्तो द्विष्टः सततमपि यस्तस्य सौख्यं कुतस्त्यम् ।।१।।

अत्यन्त सुख किसे प्राप्त होता है ? अत्यन्त दुःख किसे प्राप्त होता है ? जिसने अपनी प्रकृति पर पूर्ण विजय पा लिया है, उसे अत्यन्त सुख प्राप्त होता है और जिसे अपनी प्रकृति पर किंचित् भी विजय प्राप्त नहीं है उसे अत्यन्त दुःख मिलता है। जो व्यक्ति लाभ और अलाभ में सम रहता है, उसे दुःख कहां ? और जो लाभ में रक्त और अलाभ में द्विष्ट होता है उसके सुख कहां ?

या दृग् वाष्पं किरति शिशिरं सैव कोष्णं कदाचित्,
कामं शांतिं वहति पवनः सोपि सन्तापदग्धः।
शाम्येद् वह्निः तदपि सलिलं वाडवाक्रान्तकायं,
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।।२।।

जो आंख कभी ठंडी भाप को बिखेरती है, वह कभी ऊष्ण आंसू भी बहाती है। जो पवन पर्याप्त शीतलता को वहन करता है, वह कभी ताप से गरम भी हो उठता है। पानी आग को बुझाता है किन्तु वह भी वाडवानल से आक्रान्त हो जाता है। यह सत्य है कि अत्यन्त सुख और अत्यन्त दुःख किसे प्राप्त है ?

दीप्रो दीप पवनसचिवो लोप्तुकामस्तमिस्र,
प्रोच्चैश्चेष्टामकृत बहुश प्राप्नुवन् स्नेहयोगम् ।
आलोकेऽपि प्रकृतिचपलो नान्वभूदाशु नाश,
कस्यात्यन्त सुखमुपनत दु खमेकान्ततो वा ॥३॥

मन्द-मन्द पवन के सहारे दीप जल रहा है। वह अन्धकार को चुराना चाहता है। उसने बहुत बार स्नेह का योग पाकर अन्धकार को चुराने के अनेक यत्न किए। प्रकृति से चपल उस दीप के आलोक ने भी यह अनुभव नही किया कि वह शीघ्र बुझ जाने वाला है। अत्यन्त सुख या अत्यन्त दु ख किसे प्राप्त होता है।

(वि० स० २००८ चैत्र—रतनगढ)

१५ : समस्या—भवेद् वर्षारम्भः प्रकृतिपुलको मोदजनकः

जनो दीर्घं चाल्प प्रकृतसमय यस्य मनुते,
तथाल्प दीर्घञ्च प्रकृतकरण यस्य मनुते ।
प्रसन्नामन्या वा दृशमपि तथा तस्य कृतिनो,
भवेद् वर्षारम्भ प्रकृतिपुलको मोदजनक ॥१॥

जिसके प्रकृत समय को मनुष्य अल्प होने पर भी दीर्घ मानता है और जिसके प्रकृत कार्य को दीर्घ होने पर भी अल्प मानता है, जिसकी प्रसन्न दृष्टि को दीर्घ होने पर भी अल्प मानता है और जिसकी अप्रसन्न दृष्टि को अल्प होने पर भी दीर्घ मानता है, उस भाग्यशाली मनुष्य के वर्ष का आरम्भ प्रकृति को पुलकित और जनमानस को प्रमुदित करने वाला होता है।

चिर ताप पृथ्वीमपि च गगन श्लिष्यतितमा-
मशेषाणा शोष नयति सरसत्व प्रतिपलम् ।
समाधातु दीर्घा बहुजनसमस्याममुमसौ,
भवेद् वर्षारम्भ प्रकृतिपुलको मोदजनक ॥२॥

चिरकाल से आतप पृथ्वी और आकाश को तप्त कर रहा है। वह सभी

सरसताओ का प्रतिपल शोषण कर रहा है। सभी व्यक्तियो की यह दीर्घकालीन समस्या है। इसका समाधान करने वाला वर्षा का आरम्भ प्रकृति को पुलकित और जन-जन को प्रमुदित करने वाला होता है।

१६ : समस्या—जन. सामान्योऽयं कथमिव विजानीत सहसा

विनिद्राणे नेत्रे स्फुरति विमलज्योतिरभित,
सुषुप्तेऽपि स्वान्ते लपति विपुला शक्तिरनिशम्।
विमूकेप्यारावे तरति गहनो भावजलधि.,
जन सामान्योऽय कथमिव विजानीत सहसा ॥१॥

नीद से मूदी हुई आखो मे भी चारो ओर विमल ज्योति प्रस्फुटित हो रही है। सुषुप्त चित्त मे भी सदा विपुल शक्ति प्रभासित होती है। मूक शब्दो मे भी भावो का गहन समुद्र तैर रहा हैं। इन तथ्यो को सामान्य व्यक्ति सहसा कैसे जान सकता है ?

मुदा चक्षुस्स्रावो भवति वत ! शोकेन सपदि,
द्वयोरेवाधिक्ये फलति मृतिराहो ! च विचिति ।
प्रसन्नास्तेनैव स्थितिरभिमता योगिभिरमु,
जन सामान्योऽय कथमिव विजानीत सहसा ॥२॥

हर्ष और विषाद मे आखो से सहसा आसू वहने लग जाते है। दोनो की अधिकता से मृत्यु अथवा चैतन्य-शून्यता भी हो जाती है। इसलिए योगियो ने केवल प्रसन्न स्थिति को ही मान्यता दी, किन्तु इसे सामान्य व्यक्ति सहसा कैसे जान सकता है ?

१७ : समस्या—न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति

न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति,
स्मृतिरतनुचिता स्यादेपभावस्तदर्थम् ।
उपकृतिकृतचित्तैर्बुद्धिरिच्छेदभेद-
मुचितमिति मत स्याद् विस्मृतौ वा स्मृतौ वा ॥१॥

सज्जन व्यक्ति किए हुए उपकारो को नही भूलते । यह स्मृति वहुत मात्रा मे सचित होती है । इसीलिए यह वात कही गई है । किन्तु मनुष्य की वुद्धि उपकार-परायण व्यक्तियो के साथ अभेद चाहती है और यही मत उचित है कि अभिन्नता प्राप्त होने पर विस्मृति और स्मृति मे कोई अन्तर नही रहता ।

न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति,
परमुपकृतिभापा रूपमेक न धत्ते ।
उपकृतिनिपुणैतिच्छेदमाधायसूचि-
रुपकृतिपटु यातिच्छेदमापूर्य सूत्रम् ॥२॥

सज्जन व्यक्ति किए हुए उपकारो को नही भूलते किन्तु उपकार की परिभाषा एक-सी नही होती । उपकार करने मे निपुण सूई छेद करती है और उपकार करने मे पटु धागा उस छेद को भर देता है ।

चतुर्थो विभागः

उन्मेषाः

१ : सत्संगाष्टकम्

श्रीमत्तुलसीरामाणा,
यशस सङ्गमादऽहो ।
सद्यो धवलितैर्जिग्ये,
हस्तिमल्लो हि दिग्गजै ॥१॥

श्रीमत् तुलसीराम के यश के सयोग से सभी दिग्गज इतने सफेद हो गए कि उन्होंने अपनी धवलिमा से ऐरावत हाथी को भी जीत लिया।

घासोऽपि गो सङ्गमत पय स्याद्,
घृत क्रमात्तच्च पुरातन तु।
हर्तुं रुज प्रत्नतमा प्रभूष्णु,
किं स्तौमि सत्सङ्गमहाप्रभावम् ॥२॥

गाय के सग से घास भी दूध बन जाता है और फिर वह घी के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। घी जितना पुराना होता है उतना ही वह जीर्ण रोगो को नष्ट करने मे समर्थ होता है। सत्सग के महान् प्रभाव की मैं क्या स्तुति करू ?

गुजा नृणामह्रितले भ्रमन्त्य-
स्तुलाप्रसगात् तुलना सृजन्ति।
चामीकरस्यातनुमूल्यभाज,
किं स्तौमि सत्सङ्गमहाप्रभावम् ॥३॥

घुघचिया मनुष्यो के पैरो के नीचे पडी रहती हैं किन्तु वे ही तराजु के प्रसग को पाकर अमूल्य सोने को तोलने मे प्रयुक्त होती हैं। सत्सग के महान् प्रभाव की मैं क्या स्तुति करू ?

अगण्य एवैक उदस्य बिन्दु,
सरस्वत सङ्गमुपेत्य सद्य ।
नयेत रम्यामह सिन्धुसज्ञा,
किं स्तौमि सत्सङ्गमहाप्रभावम् ॥४॥

पानी का एक नगण्य बिन्दु समुद्र का सयोग पाकर सिन्धु की सज्ञा को प्राप्त हो जाता है। सत्सग के महान् प्रभाव की मैं क्या स्तुति करू ?

भूधातुरास्ते ननु वर्तनाया,
प्रस्योपसर्गस्य सुयोजनेन ।
अर्थं प्रभुत्वस्य सलीलमेति,
किं स्तौमि सत्सङ्गमहाप्रभावम् ॥५॥

भूधातु का अर्थ है—होना। 'प्र' उपसर्ग के योग से वह 'प्रभु' के अर्थ को प्रकट करता है। सत्सग के महान् प्रभाव की मैं क्या स्तुति करू ?

दशार्णभद्रो वसुधाधिराजो,
जिनेशितुर्वीरविभो कृपात ।
न्यपातयत् शक्रमपि स्वपादे,
किं स्तौमि सत्सङ्गमहाप्रभावम् ॥६॥

दशार्णभद्र दर्शाण देश का राजा था। उसने तीर्थंकर महावीर की कृपा से इन्द्र को भी अपने पैरो मे झुका दिया। सत्सग के महान् प्रभाव की मैं क्या स्तुति करू ?

न काचिम चापि पुनाति किञ्चिद्,
यदुत्तमाग तदपि क्षणेन ।
पुनाति पाशुर्गुरुपादसस्था,
किं स्तौमि सत्सङ्गमहाप्रभावम् ॥७॥

जिस मस्तक को स्वच्छ जल भी पवित्र नही करता, उसे गुरु-पाद की धूलि पवित्र बना देती है। सत्सग के महान् प्रभाव की मैं क्या स्तुति करू ?

घनाघनस्याश्रयतो हि विद्युत्,
सप्रोज्ज्वलद्दावशिखिक्षयार्हे ।

बभूव तोयप्रकरैरजेया,
किं स्तौमि सत्सङ्गमहाप्रभावम् ॥८॥

विद्युत् मेघ के आश्रय मे रहती है अत वह धधकती हुई दावानल की अग्नि को शान्त करने वाली प्रचुर पानी की धाराओ से भी अजेय हो जाती है। सत्सग के महान् प्रभाव की मैं क्या स्तुति करू ?

प्रभावत श्रीतुलसीप्रभूणा,
मत्सन्निभस्तुच्छधियान्वितोऽपि ।
करोति सत्सङ्गविवेचन च,
किं स्तौमि सत्सङ्गमहाप्रभावम् ॥९॥

मेरे जैसा तुच्छ बुद्धिवाला व्यक्ति भी सत्सग के माहात्म्य का विवेचन करता है, यह श्री तुलसी स्वामी का ही प्रभाव है। सत्सग के महान् प्रभाव की मैं क्या स्तुति करू ?

(वि० स० १९९९ पौष—मोमासर)

२ : अध्ययनस्मृतिः

लोका ! सज्जत कर्णकाञ्चनकुटीमातिथ्यमाधास्यते,
सदोहो वचसा स्फुटाधरसरस्तीरे स्फुरल्लीलया।
अन्तर्मोदलसत्कपोलपटली दन्तावली सस्मिता,
लोला लोलरसा च लोचनगता लीलारस स्प्रक्ष्यति ॥१॥

मनुष्यो ! तुम सावधान हो जाओ। अब स्फुट होठ रूपी तालाव के तीर पर लीला करने वाला वचन-सदोह तुम्हारे कानरूपी स्वर्णकुटी मे अतिथि बनकर आ रहा है।

अन्तर् मे झाकते हुए उल्लास से दिप्त कपोलपटली, स्मितयुक्त दन्तावली और चपल जिह्वा—ये सब तुम्हारी आखो के सामने प्रस्तुत होकर लीला रस का स्पर्श करेगी।

तद् ध्यायामि दिन स्वजीवनधन धन्य महोमगल,
श्रीकालो करुणानिधेरमलयो पादाब्जयो. सन्निधौ।
सद्भक्त्यानतकन्धरोऽञ्जलिवर प्रोत्साहदीक्षापटु-
र्दीक्षा स्वीकृतवान् विरक्तहृदयो मात्रा सम पर्षदि ॥२॥

मुझे उस जीवन-धन, धन्य, उत्सवमय और कल्याणकारी दिन की स्मृति हो रही है जिस दिन मैं करुणा के सागर श्रीमत् कालूगणी के पवित्र चरण-कमलो मे आया। उस समय मेरे मे दीक्षा लेने का परम उत्साह था। विरक्त हृदय वाले मैंने अपनी मा (बालूजी) के साथ भरी परिषद् मे दीक्षा स्वीकार की। उस समय मैं आचार्य देव के समक्ष सिर झुकाए, हाथ जोडे खड़ा था।

तस्मिन्नैव दिनेऽथ काञ्चनमयी सा कापि वेला लसद्,
यस्यामभ्यसितु कलाकुशलतामाचारसंबन्धिनीम्।

सामोद मुनिनायकेन तुलसीपादद्युघुन्यास्तटे,
सौभाग्यादवतारित शिशुरहं प्रोद्दामदीप्रत्विषा ॥३॥

उसी दिन कोई स्वर्णमय वेला आयी। उन क्षणो मे आचार-सम्बन्धी कला-कुशलता का अभ्यास कराने के लिए आचार्य चरण ने अपनी कृपारूपी तीव्र किरणो के सहारे मुझ शिशु को मुनि तुलसीरूपी सरिता के तट पर उतारा।

सद्भाग्योदयमेव मे प्रतिपद मन्येऽहमुच्चैस्तरा,
विज्ञाना मुकुटस्य शासनपते कालोस्तु हेत्वन्तरम्।
मच्छिष्यो मनुजाकृति मनुजतावाच्यार्थशून्यास्पद,
कर्तुं मानवमर्हति स्फुटमिति ध्यात्वा सुयुक्त कृतम् ॥४॥

मैं पग-पग पर अपना परम भाग्योदय मानता हू कि विद्वान् शिरोमणि, शासनपति श्रीमद् कालू ने मेरे लिए यह सोचा था कि 'मेरा यह शिष्य केवल मनुजाकृति मात्र है और मानवता के वाच्य-अर्थ से शून्य है। इसको मुनि तुलसी मानव करने मे समर्थ है।' इसीलिए पूज्य गुरुदेव ने मुझे तुलसी के पास सौपा। यह उन्होने उचित ही किया।

गन्तु नाप्यधिगन्तुमध्वनिगति कस्मिन्नपि प्रालस-
ल्लोल लोचनमक्षिप सुमुनिना सकेतिताया सृतौ।
वारवारमथाङ्गुलीग्रहकृता सा सारणा वारणा,
मामद्य स्मृतिमागता वितनुते मुद्विह्वल रहसा ॥५॥

किसी मार्ग पर चलने या किसी विषय को जानने मे मेरी गति नही थी। मुनि तुलसी जिस मार्ग का सकेत दे देते मैं अपनी चचल आखो को वही टिका देता। उन्होंने वार-वार मेरी अगुली पकड-पकडकर मुझे गन्तव्य की दिशा मे गतिशील वनाया और अगन्तव्य की दिशा मे जाने से रोका। आज उसकी स्मृति होने मात्र से मेरा मन प्रसन्नता से सहसा विह्वल हो उठता है।

किं चित्र पथदर्शको मुनिपतिर्यत्साम्प्रत राजते,
तच्चित्र यशसोज्ज्वलस्य गणिन कालो पदाम्भोरुहि।
लीला माधुकरी नयन्नयनयोस्तारापद ससज-
न्ध्यान निरवद्यमुज्ज्वलमना मा चेतसा दर्शयत् ॥६॥

यह कोई आश्चर्य नही कि वे हमारे पथ-दर्शक मुनि तुलसी आज तेरापथ मे

आचार्य के रूप मे विराजमान हैं, किन्तु आश्चर्य यह है कि वे महान् यशस्वी कालूगणि के चरण-कमल मे भ्रमर की तरह लीला करते हुए तथा उनकी आखो मे तारा की तरह समाते हुए पवित्र मन से मनोयोगपूर्वक मुझे सही मार्ग-दर्शन दे रहे हैं।

भास्वान् भासयति प्रभासुररुचा भावानशेषानपि,
नाशोरशमपि प्रयच्छति पर तेभ्य कदापि क्वचित्।
चित्र ज्ञानमय प्रकाशमददो मा प्राङ् मुनीना पते !,
भानुर्नो तुलितस्त्वया किल पुरा किसाम्प्रत कल्प्यताम् ॥७॥

सूर्य अपनी प्रकाशवान् किरणो से सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है किन्तु वह अपने प्रकाश का एक अश भी उन्हे कभी नही देता। गुरुदेव ! आपने मुझे ज्ञानमय प्रकाश दिया। आप पहले भी सूर्य से तुलित नही हुए तो आज उसकी कल्पना ही कैसे की जा सकती है ?

सस्मर्तुं दिवसानि तानि हृदय प्रोत्साहमालिङ्गति,
जिह्वा श्लिष्यति वर्णसततिमपि प्रोत्कण्ठया चञ्चला।
आनन्त्य खलु सद्गुरोरुपकृतेरालोकमाना मुदा,
सामग्री तनुमात्मनश्च तरसा विश्राममाकाक्षति ॥८॥

हृदय उन दिनो की स्मृति करने के लिए उत्साहित हो रहा है। उत्कठा से अत्यन्त चचल बनी हुई मेरी जिह्वा कुछ बोलना चाहती है। गुरु का उपकार अनन्त है और मेरी अपनी अभिव्यक्ति की सामग्री अल्प है। अत वह अब विश्राम चाहती है।

(विक्रम सवत् २००२ माघशुक्ला १०, सरदारशहर)

३ : कोऽयं सत्संगः ?

सा सगतिर्याऽधमता वियुक्ता,
स सज्जनो यश्च गुणी गुणज्ञ ।
स एव लाभश्च तयोर्यत स्या-
दात्मोन्नति सततवृद्धिशीला ॥१॥

वही सगति है जो अधमता से रहित है। वही सज्जन है जो गुणी और गुणज्ञ है। इन दोनो से वही लाभ प्राप्त होता है कि आत्मोन्नति सदा बढती रहती है।

यद्यप्यमुष्मिन् भुवने भवन्ति,
धाराधराद्या सुजनोपमार्हा।
तथापि तत्पाश्चिममैक्ष्य कार्यं,
वय प्रशसा न विदध्महेऽत्र ॥२॥

यद्यपि इस धरती-तल पर बादल आदि सज्जन कहलाने के योग्य हैं, फिर भी उनके अतिम कार्य को देखकर हम उनकी प्रशसा नही कर सकते।

सगृह्य पानीयममानमब्धे,
क्षार पयोमुग् मधुर विधाय।
यदूषरे तत्सलिल सुधाभ,
क्षिपेत् किमौचित्यमिहाम्बुदस्य ॥३॥

मेघ समुद्र के खारे पानी को अतुल मात्रा मे ग्रहण कर उसको मीठा करता है और उस अमृततुल्य पानी को ऊसर भूमि पर बरसाता है तो क्या वह बादल के लिए उचित कहा जा सकता है ?

यत्कज्जलाना सुषमा तनोति,
चक्षु समीप समुपागतानाम् ।
तत्कालिमान न हि हर्त्तुमीश,
किमत्र गेया विदुपास्य कीर्त्ति ॥४॥

आख अपने पास आए हुए कज्जल की भी शोभा बढा देता है किन्तु उसकी कालिमा को मिटा नही सकता। क्या विद्वान् व्यक्ति के लिए उसकी कीर्ति गेय है ?

गले विलग्न फणिन गिरीश-
श्चकार पक्षिप्रभुणाप्यजेयम् ।
पर विष नापजहार तस्य,
सत्सङ्गतेजो हि किमेतदेव ? ॥५॥

शकर ने अपने गले में लिपटे सर्प को इतना वलशाली वना दिया कि वह गरुड से भी अजेय हो गया, किन्तु उसके विष का अपहरण नही किया। क्या सत्सग का यही तेज है ?

तुच्छ पयोदच्युतमम्बुबिन्दु,
शुक्तिर्महार्घ्या कुरुते सुमुक्ताम् ।
ता मारयित्वा लभतेऽर्घ्यता सा,
हा हाऽधमाना किमिय प्रवृत्ति ? ॥६॥

सीपी बादल से बरसी हुई पानी की छोटी-सी बूद को धारण कर उसे मूल्यवान मोती बना देती है। किन्तु मोती बनी हुई वह बूद उस सीपी को तोडकर ही मूल्य पाती है। हा-हा! अधम (तुच्छ) व्यक्तियो की यह कैसी प्रवृत्ति ?

प्रफुल्लितं पद्ममहर्मणे रुचा,
प्रादुष्करोत्येव रवे प्रभावम् ।
जन्मास्पद शोषयते हि तस्य,
प्रशसनीया किमिय प्रवृत्तिः? ॥७॥

सूर्य की किरणो से विकसित कमल सूर्य के प्रभाव का ख्यापन करता है किन्तु सूर्य अपने को जन्म देने वाले कीचड का शोषण करता है। क्या यह प्रवृत्ति प्रशसनीय है ?

तुच्छोऽपि तन्तु किल पुष्पयुक्त-
स्तिष्ठेद् वरागे वसुधाधवानाम्।
मणीवके निष्क्रियता प्रयाते,
भ्राम्येत् स नून चरणे जनानाम् ॥८॥

फूलो मे पिरोया हुआ तुच्छ धागा भी राजाओ के मस्तिष्क पर शोभित होता है। किन्तु जब फूल मुरझा जाते हैं, तब वही धागा (कुम्हलाए हुए फूलो के साथ) लोगो के चरणो में ठोकरें खाते रहता है।

वनस्थली चन्दनशाखियुक्ता,
तुच्छातितुच्छापि सुगधिता स्यात्।
श्रीखण्डवृक्षे सहसा विनष्टे,
न गन्धलेशोऽपि विभाति तस्याम् ॥९॥

जिस वनस्थली में चन्दन के वृक्ष हैं, वह चाहे अत्यन्त छोटी भी क्यो न हो, सुगधित होगी। चन्दन के वृक्षो के नष्ट होने पर, उस वनस्थली में गध का नामोनिशान भी नही मिलता।

(वि० स २००२, पौप, मोमासर)

४ : वीतरागाष्टकम्

कदापि नो तीर्थपते ! लुलोठ,
त्वत्पादराजीवरज कणेपु ।
ततो हहा ! कर्मरजोभिरेप,
आत्मा मदीयो न हि मोचितोस्ति ॥१॥

तीर्थपते ! मेरी यह आत्मा आपके चरण-कमलो के रज कणो में कभी लुठित नही हुई इसीलिए यह कर्मरजो से मुक्त नही हो पा रही है ।

स्वामिस्त्वदीयक्रमवारिजे न,
रोलम्बसाव्रह्म्यमह चुचुम्व ।
अद्यापि यातो भववारपार-
पार न पारगत ! तेन मन्ये ॥२॥

स्वामिन् ! तुम्हारे चरण-कमलो का मैंने भ्रमर-भाव से चुम्वन नही किया । इसलिए हे पारगत ! मैं मानता हू कि मैं अभी तक ससार-समुद्र का पार नही पा सका ।

मनागपि प्राक् तव वाक्पराग-
रागेन नाह भगवन् ! ररञ्ज ।
ततो महाभाग ! विरागरिक्तो,
व्यक्तोस्ति रागो मयि नक्तमह्नि ॥३॥

भगवन् ! मैं तुम्हारी वाणी के पराग से किञ्चित् भी रक्त नही हुआ । इसीलिए हे महाभाग ! मुझमें विरागशून्य राग दिन-रात व्यक्त हो रहा है ।

श्रेष्ठा तवानन्तगुणैर्विशिष्टा,
मूर्तिर्मया हृष्टहृदा न दृष्टा ।

ततोऽभवन्नोस्फुटदृष्टिसृष्टि,
सम्यक्पदार्थाशयदर्शिनीश । ॥४॥

हे ईश ! मैंने श्रेष्ठ और अनन्त गुणो से विशिष्ट आपकी मनोहारी मूर्ति को प्रसन्न-हृदय से नही देखा इसीलिए पदार्थों को यथार्थ स्वरूप को देखने वाली स्फुट दृष्टि का निर्माण नही हुआ।

विभो ! प्रशान्तेन तवाशयेन,
मनो मदीय न चकार मैत्रीम्।
अतो हि तृष्णा न मनो विमुचेत्,
सपत्नता यापयतीव मन्ये ॥५॥

प्रभो ! आपके शान्तभाव के साथ मेरे मन ने कभी मैत्री नही की। इसीलिए तृष्णा उसका पीछा नही छोड रही है। मैं मानता हू कि वह मेरे मन के साथ सौतेला व्यवहार कर रही है।

नालोचनीयो न विचारणीयो-
ऽह स्यामह त्व त्वमिहैव देव !।
त्वत्ता मयि स्यादपयातु मत्ता,
स्वका स्वकास्तेन परे परे-स्यु ॥६॥

देव ! मैं न आलोचनीय हू और न विचारणीय हू क्योकि मैं 'मैं' हू और तुम 'तुम' हो। तुम्हारी सत्ता (शुद्ध चित्) मुझमे आए और मेरी सत्ता (अशुद्ध चित्) दूर हो जाए। यह सच है कि अपना अपना और पराया पराया होता है।

क्रोध कुटुम्वी मन एव मानो,
मायैव जाया सहजाभिलाषा।
जानीहि जानीहि महानुभाव !,
कोह विभु' का प्रगतिर्मदीया ॥७॥

हे महानुभाव ! क्रोध मेरा कुटुम्वी, मान मेरा मन, माया मेरी सहचरी और अभिलाषा सहजात रही है। देव ! तुम देखो-देखो, मैं कौन हू—परमतत्त्व और मेरी क्या गति हो रही है।

स्वामिन्निदानी शरण प्रपन्न,
मा वाललीला कलयन्तमेवम्।

कुरु द्रुत नक्रविभूपणाख्य,
ज्ञानामृतोद्भूतरस पिपासुम् ॥८॥

स्वामिन् ! मैं आपकी शरण मे आया हू । यद्यपि मैं बाल-लीला से आकलित हू, फिर भी तुम मुझमें (मुनि नथमल मे) ज्ञानामृत के रस की प्यास जगाओ।

(वि० स० १९९८ पौप—राजलदेसर)

५ : तेरापथचतुर्विंशतिः

निदाघे सतप्तास्तरणिकिरणोच्चण्डिमरुचा,
पिपासालोलास्या करुणतरुणाक्षस्फुरणका ।
श्लथ विन्यस्यन्तो मुहुरपि मुखाग्रे करपुट,
निरुद्धा सन्नान्तश्चटुलतरचाटूक्तिविसरा ॥१॥

ग्रीष्म काल। सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणो से तप रहा है। सारे प्राणी उस ताप से तप्त हैं। मनुष्यो के मुह प्यास से चचल हो रहे हैं। आखें तरुण करुणा से स्फुरित हो रही हैं। मनुष्य प्यास से आतुर होकर अपने मुख पर बार-बार धीमे से करपुट रखते हुए तीव्र प्यास का सकेत दे रहे हैं। वे अपने भीतर अत्यन्त चपल चाटु उक्तियो को रोके हुए हैं।

क्षण श्वासस्पन्दा क्षणमथ निरुद्धश्वसितय,
प्रयाम्यायामीत्युत्तरविधिकृतो हा इव चिरम् ।
वपुर्वैरस्यार्ता व्यथितमनसो व्याकुलधियो,
जना जाता सर्वेऽप्यहह कलिकालस्य महिमा ॥२॥

क्षण भर मे उनका श्वास स्पदित होता है और क्षण भर मे उनका श्वास रुक जाता है। मानो कि वह श्वास 'जाऊ या आऊ' इस प्रश्न का उत्तर देने मे वितर्क कर रहा हो। सभी मनुष्यो के शरीर नीरस, मन व्यथित और बुद्धि व्याकुल है। यह सारी कलिकाल की महिमा है।

न निद्रा नोन्निद्रा किमपि कलयाञ्चक्रुरनिश,
दिगन्तान्निश्शेपान् दृशि दृशि निराशारवमुषि ।
अनन्तान् सकल्पाननुकरणनानात्वनिपुणान्,
जना- सर्वेप्येव विधुरितदशा सन्निदधिरे ॥३॥

लोग न नीद मे थे और न उन्निद्र। वे निरन्तर किसी विचित्र स्थिति का अनुभव

कर रहे थे। वे सम्पूर्ण दिगन्तो को अपने मे समेट रहे थे। उनकी आखें निराशा के शव्द को चुरा रही थी। वे विधुरित दशा वाले लोग अनुकरण-पटु अनन्त सकल्पो को अपना सान्निध्य दे रहे थे।

समायाता केचिद् वहलवहुलाभ्रच्छविजुप,
तृपाक्लान्ता लोका मुदमपि च निन्यु पृथुतराम्।
कले कोपाक्रान्ता परमिह न किञ्चित् प्रववृषु-
रहो दो स्थ्य केलिं कलयति कलौ काञ्चन नवाम्॥४॥

आकाश को सुशोभित करने वाले कई मेघ गगन मे उमड आए। तृपा से आतुर लोगो के मन प्रसन्नता से भर गए। किन्तु कलिकाल के कोप से आक्रान्त होकर वे बादल नही वरसे। अहो! इस कलिकाल मे दरिद्रता कोई नया खेल खेल रही है।

[राजनगर (मेवाड) के श्रावक सशकित हो गए। आचार्य भिक्षु उनको समझाने के लिए गए। उन्हे देख लोग अत्यधिक प्रसन्न हुए। किन्तु प्रारभ मे भिक्षु ने, सत्य को जानते हुए भी असत्य का समर्थन किया। यह उनकी भीरुता थी।]

नभस्वानामोदस्मित इव मृदु प्रादुरभव-
त्तदानी नभ्राजा नभसि नवलीलाऽप्यलपत।
कले कोपाटोपोऽन्वभवदविशेप विफलता,
न लुम्पेत्माहात्म्य जगति महता कोऽपि किमपि॥५॥

इतने मे ही आमोद से मुसकराता हुआ कोमल पवन प्रादुर्भूत हुआ। उस समय वादल आकाश मे नई लीला करने लगे। यह देखकर कलिकाल के कोप का आरोप अपने आप मे विफलता का अनुभव करने लगा। यह सच है कि कोई भी व्यक्ति महान् व्यक्तियो की महत्ता को कुछ भी कम नही कर सकता।

(आचार्य भिक्षु ने श्रावको को समाहित किया, किन्तु स्वय असमाहित हो गए। उन्होने सत्य का अपलाप करने के लिए अपने आपको कोसा। रात मे ज्वर का प्रकोप हुआ। सकल्प किया और प्रात श्रावको के समक्ष सत्य को खोलकर रख दिया। श्रावक सतुष्ट हुए किन्तु विरोध के तूफान उठे। पूर्व सगठन हिलता-सा नजर आने लगा। आचार्य भिक्षु को पथच्युत करने के अनेक प्रयास हुए किन्तु वे अपने सकल्प से विचलित नही हुए। उन्होने सघ से सम्बन्ध-विच्छेद कर डाला।)

अभूत्स्फूर्जद्गर्जारवनिवहभव्यो घनपथ,
स्फुरद्विद्युल्लेखाविलसितवरो दिक्परिकर ।
प्रपातो बिन्दूना तृडपनयनाश्वासनमिव,
प्रतिस्पर्शस्तेषा विलय इव सक्लेशवितते ॥६॥

उठने वाले अनेक गर्जारवो से आकाश गुजायमान हो रहा था। सारी दिशाओ मे विजली चमक रही थी। लोगो की प्यास मिटाने और उनको आश्वस्त करने के लिए बूदें वरसने लगी। उनके स्पर्श मात्र से सारे सक्लेश विनष्ट होने लगे।

(सघ से सम्बन्ध-विच्छेद कर आचार्य भिक्षु केलवा आए। विक्रम सवत् १८१८ आषाढ शुक्ला १५ को पुन दीक्षा ग्रहण की। उपदेश देने लगे। लोगो ने सही धर्म के मर्म को समझा। उनके मानसिक क्लेश नष्ट होने लगे।

प्रसारो वेगेन प्रचुरतर एव प्रववृते,
कले क्वासौ सह्यो नियतमविचारावृतमते ।
न चोपाय प्राप्त स्खलितगतयो यद् वलवति,
पर दुश्चेष्टाना भवति तदनिष्ट परहिते ॥७॥

मेघ का चारो ओर विपुल मात्रा मे प्रसार हुआ। किन्तु सदा अविचार रूपी आवरण से आवृत वुद्धि वाले कलिकाल को यह सह्य नही हुआ। मेघ को मिटाने का उसके पास कोई उपाय नही रहा। यह सच है कि वलवान् व्यक्ति के आगे दूसरे सभी निरुपाय हो जाते हैं, स्खलित गतिवाले हो जाते हैं। दुष्ट व्यक्तियो की सारी चेष्टाए दूसरो के हित मे वाधा उपस्थित करने वाली होती हैं।

(आचार्य भिक्षु का धर्म-प्रचार वेग से आगे वढा। साम्प्रदायिक लोगो को यह अच्छा नही लगा किन्तु इसको रोक पाने के लिए उनके पास कोई उपाय नही था। फिर भी वे अनेक चेष्टाओ से उन्हे पथच्युत या पराजित करने का प्रयत्न करने लगे।)

अकार्षील्लोकाना नयनयुगलीमर्धमिलिता-
महार्षीत्तत्स्पर्शानुभवमपि तज्ज्ञाननिपुणम् ।
ततो नालोकेरन् स्मितचकितदृग्वीक्षणपरा,
विदध्यु प्रालेयप्रवणपृषता स्पर्शमपि न ॥८॥

कलिकाल ने लोगो की आखें अधमुदी कर डाली और उनके ज्ञाननिपुण स्पर्शो के अनुभव का भी हरण कर डाला ताकि लोग स्फुट और चकित आख वाले

होते हुए भी मेघ को न देख सकें और शीत स्पर्शवाली उन बूदो का स्पर्श भी न कर सकें।

(लोगो मे अज्ञान घर कर गया था। उनका विवेक नष्ट हो चुका था। वे भिक्षु को सत्यपथगामी मानते हुए और देखते हुए भी नही देखते थे और उनके धर्म का स्पर्श भी नही करते थे।)

न वा द्रष्टु स्प्रष्टु कथमपि च शेकुस्तनुभृत,
पिपासाऽपोह कि भवतु तदवस्थ सुविदितम्।
निराशा सजज्ञे सकृदहह किञ्चिज्जलमुच,
प्रतीकार कोय कुटिलजटिलानामभिनव ॥६॥

लोग मेघ को देखने या उसकी बूदो का स्पर्श करने मे समर्थ नही हुए। ऐसी स्थिति मे उनकी प्यास कैसे बुझ सकती थी ! मेघ को क्षणभर के लिए निराशा हुई। कुटिल और जटिल बने हुए कलिकाल का यह कैसा नया प्रतिकार ?

(भिक्षु ने देखा, लोग उनके पास आने से कतराते हैं। कोई उन्हे नही सुनता। उनके मन मे निराशा हुई और उन्होंने तपस्या कर अपने आपको लक्ष्य के लिए खपा देने की बात सोची।)

घन स्वस्मिल्लीन सघनसलिलापादिशमथ,
स्वकीय वैशद्य प्रथिनुमविकल्प कुवलये।
क्षपा कार्योन्मुख्याद् विरतिमभिभेजे कथमिव,
चिर मोद लेभे कलिरपि कलाकौशलधिया ॥१०॥

अपने सघन सलिल से शान्ति उत्पन्न करने वाला मेघ निराश होकर अपने आप मे लीन हो गया। अपनी विशदता को भूवलय पर फैलाने के कार्य से वह विरत हो गया। यह देखकर अपने कला-कौशल पर नाज करता हुआ कलिकाल बहुत प्रसन्न हुआ।

(भिक्षु निराश होकर तपस्या मे लग गए। धर्म की पवित्रता का प्रचार करने से विरत होकर एकान्त मे रहने का उन्होंने निश्चय किया। यह देखकर विरोधी लोग बहुत प्रसन्न हुए।)

मृदूद्वृत्तो वातः प्रकटमवदात प्रतिववौ,
स्वकर्त्तव्योच्छ्वास सकलचरणस्याञ्चलमगात्।

विनीत सकेत कतिपयवचोन्यासमधुर,
इव प्रत्याशा ता फलयितुमभूत्प्रादुरभित ॥११॥

इतने मे ही कोमल और उद्वृत्त वायु वहने लगी। मेघ को अपने कर्तव्य का भान हुआ। उसका उच्छ्वास सारे नभोमडल का स्पर्श कर गया। उसे शब्दात्मक सकेत मिला। वह मधुर और विनीत सकेत मानो कि उसकी प्रत्येक आशा को फलवती करने के लिए उत्पन्न हुआ हो।

(भिक्षु को निराश देखकर उनके साथ वाले दो मुनि—थिरपाल और फतेचन्द उनके सामने आए और उन्हे तपस्या से अपने आपको मिटा देने की बात को छोड धर्म-प्रचार के लिए विनीत भाव से प्रेरित किया। यह सुन भिक्षु को लगा कि उनकी सभी आशाओ के पूर्ण होने का सकेत उनमे निहित है।)

यदि त्व सकोच सृजसि तनुषोऽम्भोधरवर,
तदानी लोकार्त्ति कथय हरते क कृतिवर ।
इद किं नो चिन्त्य चतुरवर! सत्यम्भसि तव,
तृषाशङ्कातङ्को विलसति जनानामधिमन ॥१२॥

वायु ने मेघ से कहा—हे मेघ! यदि तुम अपने शरीर का सकोच करते हो, वरसने से निराश होते हो तो वताओ लोगो की पीडा कौन हरण कर सकेगा? हे चतुर मेघ! क्या यह चिन्तनीय नही है कि तुम्हारे पास पानी होते हुए भी जनता का मन प्यास की आशका से भयभीत रहे?

(मुनिद्वय ने आचार्य भिक्षु से कहा—मुनिवर! यदि आप विरत होते हैं तो वताए कि लोगो का दुख कौन दूर कर सकेगा? आपके पास सामर्थ्य होते हुए भी यदि जनता की धर्म की प्यास नही बुझ सकी तो क्या यह चिन्तनीय नही है?)

करालोऽय काल कलिरवनिखण्ड प्रणयति,
ततो मुग्धा दग्धा मयि निदधते नैव पटुनाम् ।
स्पृशन्त्येव नापि प्रणयनिकुरम्बेङ्गितपरा,
कथकार कार्य पवन! परिहारोऽपि च तृप ॥१३॥

मेघ ने कहा—'पवन! यह कराल कलिकाल सारी पृथ्वी को अपने चगुल मे फसा रहा है। इसलिए लोग मूढ और दग्ध हो चुके हैं। वे मेरे मे कोई उत्साह नही दिखाते। वे कलिकाल के प्रणय के इगितो पर चलते हैं अत मेरा स्पर्श भी करना नही चाहते। ऐसी स्थिति मे पवन! मैं उनकी प्यास कैसे बुझा सकता हू!

(आचार्य भिक्षु ने कहा—मुनिवरो ! यह कलिकाल है। सारे लोग मूढ हो रहे है तथा अपने-अपने आग्रहो से प्रतिबद्ध हैं। वे मेरा नाम तक सुनना नही चाहते। ऐसी स्थिति मे मैं उनके कल्याण के लिए क्या कार्य कर सकता हू ?)

उदाराणामन्त करणमुचितोत्साहलुलित,
पयोदाना प्रायो न हि न हि निराशामभिलषेत्।
मुधाधो बिन्दूनामपि न च निपातो हि भविता,
सकृत्वर्षायोगात्स्थलमपि नवाप्यकुरवरम् ॥१४॥

पवन ने कहा—मेघ ! उदार व्यक्तियो का अन्त करण उचित उत्साहयुक्त होता है। मेघो के लिए निराशा कभी इष्ट नही होती। तुम्हारी जो बूदें नीचे गिरेंगी वे व्यर्थ नही जाएगी। एक वार की वर्षा से भूमि मे अकुर पैदा नही होते। नए अकुर पैदा होते हैं अनेक वार की वर्षा से।

(मुनिद्वय ने कहा—गुरुदेव ! आप उदार हैं, आप मे अपूर्व उत्साह है। आप जैसे परोपकारी व्यक्तियो को निराश नही होना चाहिए। आपकी वाणी व्यर्थ नही जाएगी। किन्तु एक वार के प्रयास से ऐसा नही होगा। आपको अनेक वार प्रयत्न करना होगा।)

इदानी विश्वासो दृढतर उपास्ते मम मति,
समर्थस्त्व भावी महितलमशेष द्रवयितुम्।
ततस्त्यक्त्वोपेक्षा भव भवजवाच्छीकरवरो,
निधेहीपद्ध्यान वितर तरसा मोदमतुलम् ॥१५॥

मेघ ! मेरा यह दृढ विश्वास है कि तुम सारी पृथ्वी को आर्द्र करने मे समर्थ हो सकोगे। इसलिए तुम उपेक्षा को छोडकर ठडी वूदो के रूप मे शीघ्र ही वरसने लगो। तुम मेरी वात पर थोडा ध्यान दो और अतुल आनन्द को वितरित करो।

(आचार्यवर्य ! हमारा यह दृढ विश्वास है कि आप सद् धर्म का प्रचार-प्रसार करने मे समर्थ होगे। लोग आपसे लाभान्वित होगे। आप निराशा को छोडें और लोगो को समझाने का उपक्रम करें। आप हमारी वात पर ध्यान दें और सर्वत्र आनन्द विखेरने का यत्न करे।)

अभिज्ञायानन्य सुहितमरुतो हृद्यविनय,
नवा स्फूर्ति यातोऽभिनवपरिपाटीमधिगत.।

अगर्जत्पर्जन्योप्यहमनुभवामीति सुतरा-
मलकुर्वन्नुच्चै पुलकितनभ प्राङ्गणमलम् ।।१६।।

अपने अनन्य मित्र पवन की हृदयोत्थित वाणी को सुनकर मेघ मे नई स्फूर्ति का सचार हुआ। उसमे नई चेतना आयी। वह गर्जारव करने लगा। 'मैं भी पवन के कथन का अनुभव करू'—यह सोचकर मेघ प्रसन्न-मन होकर आकाशप्रागण मे ऊचा उठ गया।

(आचार्य भिक्षु ने दोनो मुनियो की वात सुनी। उनकी निराशा टूट गई। नई चेतना का सचार हुआ। उन्होने कहा—'मैं तुम्हारी बात को स्वीकार कर आज से पुन प्रचार-जीवन मे आ रहा हू'—यह कहकर वे प्रवृत्ति-क्षेत्र मे आ गए।)

विलोकिष्यन्ते ये स्फुटनयनराजीवयुगला-
स्तथा ये स्प्रक्ष्यन्ति प्रकृतिपुलकाञ्चत्तनुकणा ।
कदाचिन् मोक्ष्यन्ते नहि समययोग्य प्रकरण,
ममेद क्षेत्राणा हितकरमपारश्रममितम् ।।१७।।

विकसित नयनकमल वाले लोग मुझे देखेंगे और वे प्रकृति से पुलकित होकर मेरी बूदो का स्पर्श करेंगे। मुझे विश्वास है कि वे खेतो के लिए हितकर, अपार श्रम से प्राप्त इस समय-योग्य वर्षा के लाभ को कभी नही छोडेंगे।

(भिक्षु ने सोचा—लोग मेरा सम्पर्क करेंगे और मेरी वाणी को सुनेंगे। मुझे विश्वास है कि वे धर्म के सही मार्ग को पाकर लाभान्वित होंगे।)

पुनस्तत्रारेभे घनरसकणासारमतुलं,
चकम्पे सातङ्क कलिहृदयमालोलगतिकम् ।
सदाशाविन्दूना श्रवणमभिराम दृशि गत,
तदाकारा शान्ति व्यतरदविराम तनुभृताम् ।।१८।।

मेघ वरसने लगा। कलिकाल का चपल और भयभीत हृदय काप उठा। आशा के विन्दुओ का झरना आखो के सामने नाचने लगा। वह मनुष्यो को अविराम शान्ति देने लगा।

(भिक्षु ने प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया। लोग आने लगे। विरोधियो के मन शका से भर गए। उनमे ईर्ष्या पैदा हो गई। आचार्य भिक्षु की वाणी से लोग

आश्वस्त हुए और उन्होंने धर्म का सही मार्ग पाकर अपने आप मे अपूर्व शान्ति का अनुभव किया।)

अपश्यन्नामोदात्त्वरितगतय केपि सुजना-
स्तथा स्प्राक्षु केचिद् विपुलपुलकास्तद्गहनताम् ।
तथेयु सामीप्य कतिचनजना· सस्मयतया,
किमेतत् किंवैतत्स्फुरितवचना दृष्टगगना ॥१६॥

आकाश मे मेघ उमड आए। कई सुजन व्यक्ति प्रसन्नता से उन्हे देखने के लिए शीघ्र ही बाहर आए। कई पुलकित व्यक्तियो ने उन मेघो की गहनता के विषय मे पूछताछ की। कई व्यक्ति आश्चर्य से एकत्रित हुए और आकाश की ओर देखते हुए—'यह क्या है, यह क्यो है'—इस प्रकार वितर्कणा करने लगे।

(आचार्य भिक्षु धर्म का मर्म समझाने लगे। लोगो मे कुतूहल हुआ। कई व्यक्ति उनको देखने के लिए आए। कई तत्त्व-विचारणा मे उनकी गहनता को परखने लगे और कई व्यक्तियो ने उनके नानाविध परीक्षण किए।)

प्रतिक्षेत्र भ्राम्यल्ललितमुदिरो बोधविदुरो,
वपुस्तर्प्ति पुसामहरततमा स्निग्धमधुर ।
कले. कोपो माभूत्सफल इति सचिन्त्य मनसा,
प्रचक्रे मर्यादा सलिलपटलस्यापि परित. ॥२०॥

सबको प्रबुद्ध करने मे निपुण मेघ सभी क्षेत्रो मे घूमने लगा—बरसने लगा। उसने अपने स्निग्ध और मीठे जल से प्राणियो के शारीरिक ताप का हरण किया। कलिकाल का क्रोध सफल न हो—यह मन मे सोचकर मेघ ने अपने सलिल पटल के चारो ओर घेरा डाल दिया।

(आचार्य भिक्षु गाव-गाव घूमने लगे। उनकी मीठी और सरस वाणी को सुनकर लोगो के मन तृप्त हो गए। उन्होने अपने सघ-सगठन को दृढ करने के लिए मर्यादाओ का निर्माण किया। सघ के चारो ओर मर्यादाओ का घेरा डाल दिया।)

प्रपेदाते तूर्णं नवतरुणिमान च नयने,
मुखाम्भोजस्मेर विकचरदनश्रेणि यदभूत् ।

बभौ पाणेर्युग्म प्रणयनतभालस्थलगत,
रसज्ञा सस्तोतु तमथसहसा स्फूर्तिमगमत् ॥२१॥

वर्षा के कारण प्राणियो की आखो मे नई लालिमा उमड आयी। उनके मुख-कमल खिल उठे। दन्तावलि विकचित हो गई। दोनो हाथ जुडे और ललाट पर लग गए। उस स्थिति का वर्णन करने के लिए जिह्वा स्फुरित हो उठी।

(आचार्य भिक्षु के प्रवचनो से लोगो मे नई आशा का सचार हुआ। उनके चेहरे प्रसन्नता से खिल उठे। वे भिक्षु के चरणो मे गिर पडे। सर्वत्र उनकी प्रशसा होने लगी।)

स भिक्षुर्मेघात्मा ततयशसि विश्वे प्रतिपल,
शरीर त्यक्त्वापि प्रकटमहिमा जीवतितराम्।
तदीय प्राधान्य तदनुघन एवाभिलषते,
प्रमाण तत्रात परमिह किमस्तु स्फुटमहो ॥२२॥

विश्व मे व्याप्त यशवाले वे मेघात्मा भिक्षु शरीर को छोडकर भी अपनी महिमा द्वारा जी रहे हैं। उनके बारे मे होनेवाले मेघ (आचार्य) भी उनकी प्रधानता को चाहते हैं। उनके जीवित होने का इससे अधिक क्या प्रमाण आवश्यक हो सकता है ?

तदाकारस्तद्वल्लसति तुलसीराममुनिप-
स्तप पूताकूत कविहृदय आत्मोन्नतिरत ।
सुधाबिन्दूत्सेकात्कलितवसुधाखण्डसुहितो,
वदान्य सम्मान्यो गुरुतरगुणैरञ्चितवपु ॥२३॥

उन्ही की तरह आचार्य तुलसी शोभित हो रहे हैं। उनका अन्त करण तप से पवित्र है। वे कविहृदय हैं और आत्मोन्नति मे रत हैं। अपनी वाणी-रूपी सुधा-बिन्दु के सिचन से उन्होंने पृथ्वी-खड को तृप्त कर दिया है। वे उदार, सम्मान्य और अनेक वरिष्ट गुणो से युक्त हैं।

विभुर्मुख्यो वाचाममिततममेधाविमुकुटो
जयत्तेरापन्थाधिपतिरभिराम विजयते।
पदाब्जे तस्यैव प्रमुदमुपगच्छन्ननुपद,
व्यधात्तेरापन्थप्रकृतगुणकाव्य नथमल ॥२४॥

वे कुशलवक्ता, विद्वद् शिरोमणी और विकासशील तेरापथ के अधिपति हैं। मैं मुनि नथमल उनके चरणो मे सदा प्रसन्न रहता हू। मैंने तेरापथ के गुण-वर्णन करनेवाले इस काव्य का निर्माण किया है।

(२००२ भाद्रव शुक्ला १३—श्रीडूगरगढ)

६ : आत्मदर्शन-चतुर्दशकम्

अदृश्या सदृष्टा श्रुतमपि हहा ! ऽश्राव्यमनिश-
मनास्वाद्ये स्वाद सततमनुभूतो जडधिया।
असस्पृश्या स्पृष्टा कथमहमहो देव ! विदधे,
हृदा साक्षात्कार ध्रुवमिति गतो न स्मृतिमपि ।।१।।

भगवन् ! मैं जडबुद्धि वाला हू। जिसे नही देखना चाहिए मैंने उसे देखा, जिसे नही सुनना चाहिए उसे सुना, जिसका स्वाद नही लेना चाहिए उसका स्वाद लिया और जिसका स्पर्श नही करना चाहिए उसका स्पर्श किया। मैं हृदय से आपका साक्षात्कार कैसे करू—इसकी मुझे कोई स्मृति भी नही रही।

विभावान्नि शेपान् मनसि विनिधातु प्रतिपल,
स्वभाव हा ! हातु बहुविधमल यत्नमकृषि।
न जानेऽकस्मात्त्व तदपि हृदये वासमकृथा,
महान्तो वात्सल्य जहति न हि कुत्रापि विदितम् ।।२।।

देव ! मैंने अपने मन मे सभी विभावो को सजोए रखने के लिए तथा स्वभाव को छोडने के लिए बहुत-बहुत प्रयत्न किए हैं। फिर भी न जाने क्यो तुमने अकस्मात् मेरे हृदय मे वास कर लिया। हा, यह सच है कि महापुरुष अपने किए हुए वात्सल्य को नही छोडते।

कियद् रम्य जात वसति हृदये त्व मम सुख,
गता दूर चिन्ता सुकृतसरित सगमगमम्।
यथा त्वा सस्मतु मनसि मम सकोचपरता,
तथाऽत्राऽऽगन्तु चेदपि तव तत स्वासनमिह ।।३।।

देव ! यह कितना अच्छा हुआ कि तुम मेरे हृदय मे सुखपूर्वक निवास करते हो। मेरी सारी चिन्ताए दूर हो गई और मैं पुण्य की सरिता से जा मिला। जिस

प्रकार तुम्हारा स्मरण करने मे मुझे सकोच का अनुभव होता है, वैसे ही मेरे हृदय मे आने मे तुम्हे सकोच होता तो तुम्हारा निवास मेरे हृदय मे कैसे होता ?

यस्य त्व हृदयगमो विधियुत तस्यास्ति सार्थं जगद्,
यस्माद्दूरमुपैसि वासमनिश व्यर्थं च तस्यास्ति तत्।
यस्य त्व प्रियता गत स्थिरमतेस्तस्य प्रियो नाऽपरो,
यो वा न त्वयि रज्यते खलु स को मुह्यत्यशेषेष्वपि ।।४।।

देव ! तुम जिसके हृदय मे स्थित हो गए, उसके लिए यह जगत् सार्थक है और तुम जिसके हृदय मे दूर हो गए, उसके लिए यह जगत् अर्थहीन है। देव ! जिसके तुम प्रिय बन गए, उस स्थिरमति के लिए दूसरा कोई प्रिय नही रहता। जो तुममे रक्त नही होता वह दूसरी सभी वस्तुओ में आसक्त हो जाता है।

नष्टा मोहविडम्बना क्षणभरात्स्पष्टा च चेतस्थली,
साक्षात्कारमुपागत सफलता याता च हृल्लालसा।
तत्कष्टान्यपि सत्करोमि सुतरा पर्याप्तमेतै सुखै-
र्येर्जाता तव विस्मृतिश्चिरमहो मोह समुज्जृम्भित ।।५।।

भगवन् ! मैं उन कष्टो का सत्कार करता हू, जिनके कारण मेरा मोह नष्ट हो गया, मेरा चित्त प्रसन्न हो गया, मुझे आपका साक्षात्कार मिला और मेरी मनोकामना सफल हुई। उन सुखो से क्या, जिनके कारण मैं आपको भूल गया और मेरे मे मोह का उदय हो आया।

वेपन्ते तरवोऽरुणा दशदिशो भू कम्पते भूरिश,
सर्वेऽमी भुवनोदरे प्रसृमरा भावा क्षणे भगुरा।
कामा मानसजा अमी विपसमा कोऽन्य शरण्यो मम,
वन्धो ! दीनजनस्य हे ! शिशुमिम मा पाहि पाहि प्रभो ! ।।६।।

भगवन् ! सारे वृक्ष कपित हो रहे हैं। दसो दिशाए लाल हो रही हैं। वार-वार भूनाल हो रहा है। ससार के ये सारे पदार्थ क्षणभगुर है। मन मे उत्पन्न होने वाली कामवासना विप के समान है। ऐसी स्थिति मे देव ! आपके सिवाय मुझे दूसरा कौन शरण दे सकता है ? हे दीनवन्धु ! इस वालक की आप रक्षा करें।

दृष्ट्या हे ! मम देव ! विश्वमखिल पश्यामि भूयो यया,
द्रष्टु त्वा च तयैव भूरि यतित हा ! मर्मशून्य मया।
तेनैवाऽसफल सदा समभव जात न ते दर्शन,
दिष्ट्या साप्रतमस्मि लब्धसरणिर्मा पाहि पाहि प्रभो ! ।।७।।

भगवन् ! मैंने जिस दृष्टि से सारे विश्व को देखा उसी दृष्टि से आपको देखने का वार-वार प्रयत्न किया, किन्तु मैं सदा असफल ही रहा। मुझे आपके दर्शन प्राप्त नही हुए। मैंने मर्म को नही जाना। किन्तु प्रभो ! भाग्य से अब मुझे मार्ग मिल गया है, आप मेरी रक्षा करें।

के दोपाश्च गुणाश्च के न सुलभो लोके विवेकोऽप्यय,
किं वा तोलयितु श्रम सृजसि रे लोकानिमान् मूढधो ! ।
यत्कुर्वे च ममप्रियोऽपि कुरुते सर्वं च तद् रोचते,
यत्र प्रेमलवो न तस्य वत ! मे सर्वा क्रियाप्यप्रिया ।।८।।

दोप क्या हैं और गुण क्या हैं ?—यह विवेक होना सुलभ नही है। हे मूढ बुद्धिवाले ! तू इन मनुष्यो को तोलने का क्यो व्यर्थ श्रम कर रहा है ? जो कुछ मैं करता हू और मेरा प्रिय व्यक्ति करता है, वह सव मुझे रुचिकर लगता है। जिसके प्रति मेरा तनिक भी प्रेम नही है, उसकी सारी क्रियाए मुझे अप्रिय लगती है।

स्वामिन् ! मे तव दर्शनाद् मतिरिय स्याद् वीतरागाऽचिर,
दोपान यत्सुहृदो गुणानसुहृदो द्रष्टु भवेय क्षम ।
नो नो दुर्हृदय तथा सुहृदय भेदोप्यय नश्यतात्,
सतोपोऽपि न नाम सर्वविपये श्लाघ्यो यत पडितै ।।९।।

भगवन् ! आपके दशन से मेरी बुद्धि वीतराग हो जाए और तव मैं मेरे मित्रो के दोपो को और शत्रु के गुणो को देखने मे सक्षम हो सकू। यह मेरा मित्र है और यह शत्रु—यह सारा भेद ही नप्ट हो जाए। विद्वानो का यह अभिमत है कि सभी विपयो में सतोप कर लेना श्लाघ्य नही होता। (अध्यात्म में प्रगति करने के लिए असतोप होना ही चाहिए)।

चक्षुर्बाधकमस्ति बाधनपरा जिह्वा रसे लम्पटा,
श्रोत्रे स्त श्रवणप्रिये त्वगऽपि हा ! स्पर्शे भृश रज्यते।

चेतश्चचलता गत वहुविध नो वोधित वुध्यते,
प्रत्यूहास्तव दर्शने ह्यगणितास्त्वा यामि केन प्रभो ? ॥१०॥

भगवन् ! आपके दर्शन में अनगिन वाधाए हैं। मेरे ये चक्षु वाधक हैं। यह रसलोलुप जीभ भी वाधक है। मेरे ये कान वैभाविक नाद सुनने के रसिक है और मेरा त्वग् इन्द्रिय-स्पर्श में अनुरक्त है। मेरा चित्त चचल है। उसे वहुत प्रकार से समझाने-वुझाने पर भी वह अनुशासित नही होता। देव ! फिर मैं आप तक कैसे पहुचू ?

दु माध्या रुज उद्भवन्ति वहुला अव्रह्मणा देहिना,
ज्ञात ज्ञातमिति प्रकाममथ किं स्यान् ज्ञानमात्रेण रे।
जिह्वा नो वशिनी न सयमपर चक्षुर्न चैकान्तता,
दास्य नो मनसो विमुक्तमथ तत्त्यक्तु कथा सा वृथा ॥११॥

अव्रह्मचारी मनुष्यो मे अनेक दु साध्य रोग उत्पन्न हो जाते है—यह जान लिया है, अच्छी तरह से जान लिया है। किन्तु जानने मात्र से क्या हो। जीभ वश मे नही है। न चक्षु मयत हैं और न एकान्तवास है। मन की दासता से भी मुक्ति नही मिली है। अव्रह्मचर्य को छोडने की कथा वृथा-सी हो रही है।

अस्माक हा ! समयकृपया वक्रजाडच गताना,
धर्म शोध्यस्तदपि विधिवद् दुष्कर पालनीय।
अस्तु ज्ञान रचितरुचिराचारमात्मानुभावात्,
साम्य योगो मनसि रमता निर्विकारे विनीते ॥१२॥

काल की कृपा से इस युग के हम मुनि वक्रजड हैं। हमारे लिए धर्म का ज्ञान सुलभ है किन्तु उसका विधिवत् आचरण सुलभ नही है। प्रभो ! हमारी आत्मशक्ति जागे जिससे हमारे ज्ञान और आचार की दूरी पट जाए और हमारे विनीत और निर्विकार मन मे साम्ययोग रमण करे।

वार्तायां वहुधा श्रुत सुपठित शास्त्रेषु चानेकशो,
यद् व्रह्मव्रतपालन तनुभृता स्यात् सर्वतो दुष्करम्।
इत्येव श्रवणेन सश्रवणक जात मनो दुर्वल,
त्वद्भक्तै सुकर न किं हृदयगस्त्व यस्य चैकान्तत ॥१३॥

भगवन् ! मैंने वहुत वार सुना है और शास्त्रो में पढा है कि मनुष्यो के लिए

ब्रह्मचर्य का पालन सबसे अधिक दुष्कर होता है। ऐसा सुन-सुनकर कान और मन—दोनों दुर्बल हो गए। देव ! आप जिनके हृदय में अभिन्न रूप से निवास करते हैं उन भक्तों के लिए कौन-सी वस्तु सुकर नहीं होती ?

त्वं पारदर्शीत्यमुना प्रलुब्धो,
जातोऽसि रे ! मे व्यवधानहेतुः।
पश्यामि पारं प्रियमात्मबुद्धया,
नायामि नायाति स एष मां माम् ॥१४॥

'तुम पारदर्शी हो'—मैं इस बात से ठगा गया और तुम मेरे लिए व्यवधान के हेतु बन गए। मैं आत्मबुद्धि के द्वारा उस पार को देखता हूं, पर उस तक पहुंच नहीं पाता और न वह मेरे पास आ रहा है।

(वि० सं० २००५ छापर)

७ : भक्तिविनिमयः

गृहीत्वा प्रव्रज्यामकृत निजचेतोवितरणं,
तदानीं प्रत्यादाद् गुरुवरमनोवृत्तिममलाम् ।
अदादक्ष्णोः स्फूर्तिं पुनरलभताऽनन्तकरुणा-
मिदं भक्तेस्तत्त्वं भवति भगवन्! वा क्रयविधिः ? ॥१॥

दीक्षा ग्रहण कर, आपने अपना मन गुरु को दे डाला और बदले में गुरु की पवित्र मनोवृत्ति को पा लिया। आपने आंखों की स्फूर्ति दी और बदले में गुरु की अनन्त करुणा प्राप्त की। भगवन्! यह भक्ति है या विनिमय ?

अकार्षीच्छ्रद्धेयां विनयपरिपाटीं गुरुपदे,
द्रुतं प्रापद् रम्यां महिमपरिपाटीं गुरुपदाम् ।
व्यधाद् भक्तिं हृद्यामभजत विभक्तिं मुनिपदा-
दिदं भक्तेस्तत्त्वं भवति भगवन्! वा क्रयविधिः ?॥२॥

आपने गुरु के प्रति श्रद्धायुक्त विनय का प्रयोग किया और बदले में सुरम्य तथा विशाल महिमा के स्थान को प्राप्त कर लिया। आपने गुरु के प्रति हृदय से भक्ति दिखाई और आप मुनिपद में विभक्त हो गए—आचार्य बन गए। भगवन्! यह भक्ति है या विनिमय ?

विचारस्वातन्त्र्यं न हि निरवहत् क्वापि किमपि,
विचाराः स्वाधीनाः स्वयमहह जाता गुरुगताः ।
अगच्छत्स्वच्छात्मानुपदमभवत्तत्पदपति-
र्इदं भक्तेस्तत्त्वं भवति भगवन्! वा क्रयविधिः ?॥३॥

विचारों की स्वतन्त्रता कहीं भी नहीं बरती, किन्तु आज गुरुगत सारे विचार स्वतन्त्र हो गए। आप अपने गुरु के पद के पीछे-पीछे चले और आज उनके पद के स्वामी हो गए। भगवन्! यह भक्ति है या विनिमय ?

लघुत्वं पादाब्जे प्रयुतमथ लब्धा सुगुरुता,
नियोगोप्याराधि प्रथितसुनियोगिप्रणिनुत ।
सदा सेवाऽसाधि प्रचुरमतिनैवं प्रतिपल-
मिदं भक्तेस्तत्त्वं भवति भगवन् ! वा क्रयविधि ?।।४।।

आपने अपनी लघुता गुरु के चरण-कमलों में समर्पित की और बदले में गुरुता पा ली। आपने आदेश की आराधना की और आज बड़े-बड़े आदेश देने वालों के द्वारा संस्तुत हैं। आप प्रचुरमति वाले हैं। आपने इस प्रकार सदा सेवा की है। भगवन् ! यह भक्ति है या विनिमय ?

यथा तत्स्थानस्याप्रतिममहिमानं प्रकुरुते,
तथा स्वस्यौन्नत्यं रचयति विरञ्चेरविषयं ।
उपायो रम्योऽयं करतलगतस्ते मुनिपते !,
गुरोर्भक्तेस्तत्त्वं भवति भगवन् ! वा क्रयविधि ? ।।५।।

जैसे आप अपने गुरु के स्थान की अप्रतिम महिमा बढाते हैं वैसे ही आप अपनी उन्नति इस प्रकार कर लेते हैं कि विधाता भी उसे नहीं जान पाता। मुनिपते ! आपको यह अच्छा उपाय हाथ लगा। भगवन् ! यह गुरु-भक्ति है या विनिमय ?

यशोगाथा कालो कलयति च काव्ये परिषदि,
यशोगाथागानं भवति भवतस्तावदतुलम् ।
महत्त्वं काव्यस्थं वचनगतमाविर्भवति च,
गुरोर्भक्तेस्तत्त्वं भवति भगवन् ! वा क्रयविधि ? ।।६।।

आप परिषद् में श्रीमत् कालूगणि का यशोगान करते हैं। वह आपका अतुल यशोगान बन जाता है। कविता में सन्निहित महत्त्व वचन में आकर अभिव्यक्त होता है। भगवन् ! यह गुरु-भक्ति है या विनिमय ?

करिष्यत्यानन्दोद्भवमखिलसंघस्य सुतरां,
हरिष्यत्याभा नामपि तदनुगोऽशोकतरुजाम् ।
भविष्यत्युद्वेलो गणजलधिरात्मा हि भवतो,
गुरोर्भक्तेस्तत्त्वं विहितमिह तद् यच्च भवता ।।७।।

आप सम्पूर्ण संघ में आनन्द की सृष्टि करेंगे और अपने गुरु का अनुसरण

करते हुए अशोक वृक्ष की आभा का अनुहरण करेंगे—जैसे अशोक वृक्ष अपने नीचे बैठे व्यक्ति को शोक-रहित कर देता है, वैसे ही आप सबको शोक-रहित कर देंगे। इस प्रकार करने से गण-समुद्र की वेला उन्नत होगी, जो कि आपकी आत्मा है। भगवन् ! आपने गुरु-भक्ति के तत्त्व की उचित प्रतिपत्ति की है।

इय सेवावृत्ति परमगहना सेति भणिति-
र्भवत्कृत्य लक्ष्याङ्गणसु रममाण कृतवती।
तत ख्याति प्राप्तानुमितिरिति मे ही फलवती,
गुरोर्भक्तेस्तत्त्व विहितमिह तद् यच्च भवता ॥८॥

सेवावृत्ति परम गहन होती है—उस उक्ति ने आपके कृत्य को लक्ष्य के प्रागण मे क्रीडा करते हुए पाया है। इससे मेरा अनुमान प्रसिद्ध हो चुका है कि भगवन् ! आपने गुरु-भक्ति के तत्त्व की उचित प्रतिपत्ति की है।

(वि० स० २००५ पट्टोत्सव, छापर)

८ : महावीराष्टकम्

उन्नता चरणे श्रद्धा,
वृद्धा सा पापकर्मणि।
सन्नद्धा स्वात्मसज्ञाने,
देव! भूयात् सदा मम ॥१॥

देव! तुम्हारे चरणो की उपासना करने के लिए मेरी श्रद्धा उन्नत, पापकारी कार्यों के प्रति वृद्ध तथा आत्म-सज्ञान के लिए सदा तत्पर हो।

सत्कृतो वाऽसत्कृतो वा,
त्वया स्या स्या न वा पुन।
वीतरागो यतोऽसि त्व,
त्व सदा सत्कृतो मया ॥२॥

देव! तुम्हारे द्वारा मैं सम्मानित होऊ या असम्मानित होऊ, इसमे कोई बात नही है क्योकि तुम वीतराग हो। किन्तु तुम मेरे द्वारा सदा सम्मानित हो।

स्नेहार्द्रैश्चक्षुषोर्वाष्पै,
क्षालितौ चरणौ तव।
क्षालयेराकृति नाप्त-
स्त्वापि मे मानस मलम् ॥३॥

प्रभो! मैंने आखो के स्नेहार्द्र आसुओ से तुम्हारे चरणो का प्रक्षालन किया है। किन्तु तुम मूर्त बनकर भी मेरे मानस-मल का प्रक्षालन नही करते।

अदृश्यो यदि दृश्यो न,
भक्तेनाऽपि मया प्रभो!

स्याद्वादस्ते कथ तर्हि,
भावी मे हृदयगम ॥४॥

प्रभो ! मैं भक्त हू। तुम अदृश्य हो किन्तु मेरे लिए भी यदि दृश्य नही बनते हो तो तुम्हारा स्याद्वाद मेरे द्वारा कैसे हृदयगम होगा ?

अर्पयामि मनोभाव,
ग्राह्य विनिमये किमु।
हा ! वुद्धोस्मि क्षणेनापि,
फलाशा दोषदाऽर्पणे ॥५॥

देव ! मैं अपना मनोभाव तुमको अर्पित करता हू किन्तु विनिमय मे तुम मुझे क्या दोगे ? ओह ! क्षण मे ही मैंने जान लिया कि 'अर्पण मे फलाशा करना दोष-प्रद है।'

तवाहमिति मे वुद्धि,
त्व ममेत्यपि सादरम्।
परे जानन्तु मा वा किं,
साक्ष्यापेक्षोऽसि सर्ववित् ! ॥६॥

मैं मानता हू कि मैं तुम्हारा हू और तुम मेरे हो। दूसरे इसे मानें या न मानें, किन्तु सर्ववित् ! क्या तुम्हारे सामने भी इसका साक्ष्य देना होगा ?

किं करोमि तवाऽर्थ हे,
देव ! नापेक्ष्यतामिति।
ममार्थं किं विधाताऽसि,
ममापेक्षा महीयसी ॥७॥

हे देव ! मैं तुम्हारे लिए क्या करता हू इसकी तुम अपेक्षा न करो। किन्तु मेरी यह महान् अपेक्षा है कि तुम मेरे लिए क्या करते हो ?

कर्तृत्वमात्मनोऽपास्य,
भक्ताना किं करिष्यसि।
यत्कृत तत्कृते हेतु-
र्भवे स्या सदृशस्तव ॥८॥

देव ! तुम्हारा कर्तृत्व दूसरों के लिए नही है, फिर भी तुम भक्तो के लिए क्या करोगे ? तुमने जो किया है, वही मैं करू। तुम केवल उसके निमित्त बन जाओ, मैं अपने आप तुम्हारे जैसा हो जाऊगा।

(वि० स० २००७ कार्तिक कृष्णा १४—हासी)

पञ्चमो विभागः

स्तुतिचक्रम्

१ : जैनशासनम्

यत्स्याद्वादसुयोधनैरुपशम नीता विरोधव्यथा,
वीराणामुचित विराजतितमा यस्मिन्नहिंमा ध्रुवम् ।
यद्दृष्टि समतामयी स्फुरति वा जीवेषु सर्वेष्वपि,
स्वस्तिश्रीजिनशासनाय सतत तस्मै विशुद्धात्मने ॥१॥

जिमने स्याद्वाद के शस्त्र से विरोध की व्यथा को उपशान्त कर डाला, जिसमे वीरोचित अहिंसा का विधान है, जिममे समस्त जीवो के प्रति समता की दृष्टि विद्यमान है, उस विशुद्धात्मा जैन शासन का सतत कल्याण हो ।

ज्ञान श्रद्धा चरणमनघञ्चार्हतीय त्रयीह,
साङ्गोपाङ्गा लसति सुमतिर्यत्र भव्यस्वभावा ।
सत् स्याद्वादो नयननयनो वर्द्धमानो जिनेन्द्र,
प्राज्ञै पूज्यो मुनिपतुलसी स्वस्ति तस्मै गणाय ॥२॥

जिसमे सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र—यह रत्नत्रयी विद्यमान है, जिसमे भव्य स्वभाववाली सागोपाग सन्मति विराजमान है, जिसमे सत् स्याद्वाद, चक्षु का चक्षु जिनेन्द्र वर्द्धमान तथा विद्वत्-पूज्य आचार्य तुलसी हैं—उस भैक्षव गण का कल्याण हो ।

येनाज्ञानमपाकृत वृतमपि ज्ञान ततोनन्तग,
तच्छ्रीवीरजिनेशितुर्व्यपमले जैनाह्वये शासने ।
स्याद्वादो लपतेऽभटो हि सुभटोऽहिंसाहवे स्फूर्तिमान्,
आचारोऽपि विचारवान् फलति तत्स्यान् मगल मगलम् ॥३॥

जिन्होने छिपे हुए अज्ञान को दूर कर अनन्त ज्ञान को पा लिया, उन श्रीवीर जिनेन्द्र के पवित्र जैन शासन मे स्याद्वाद प्रदीप्त हो रहा है। वह ऐसा सुभट है कि जिसके प्रतिपक्ष में कोई भट नही है। वह अहिंमा के युद्ध में ही स्फूर्तिमान्

होता है। जिसकी मर्यादा में आचार भी विचार युक्त होकर फलित होता है, उस शासन का मगल हो।

यत्राहिसा स्फुरति सतत भावनाना विशुद्ध्यै,
यत्राशुद्धिर्व्रजति विलय भावनाना विशुद्धौ।
साम्य यत्र श्रयति सुषमा सर्वजीवेषु काम,
जैन गच्छत्युदयमनघ शासन तत्र तत्र ॥४॥

जहा भावना की विशुद्धि के लिए अहिंसा निरन्तर स्फुरित होती है, जहा भावना की विशुद्धि में सारे दोष नष्ट हो जाते है, जहा सर्वजनो के प्रति समता की सुषमा प्रस्फुरित होती है, वहा-वहा पवित्र जैन शासन उदित होता है।

कल्याणाय समस्तविश्वमधुना काक्षापर विद्यते,
व्याप्त किन्तु विभाति तत्र बहुल ध्वसोद्भव साध्वसम्।
हिंसाभीतिरिय भवेद् विगलिता स्यान्निर्भय मानस,
जैन शासनमित्थमुद्यमरत स्याच्छ्रेयसे सर्वत ॥५॥

आज समूचा विश्व कल्याण का आकाक्षी है किन्तु विनाश से उत्पन्न भय सर्वत्र व्याप्त है। हिंसा का यह भय विगलित हो और सबका मानस निर्भय बने। जैन शासन इस ओर प्रयत्नशील बनकर सबके कल्याण के लिए कार्य करे।

तुल्लो अतुल्लो न हु अत्थि कोवि,
सन्तो असन्तो वि न अत्थि कोवि।
सावेक्खदिट्ठ परमत्थि दिट्ठ,
सावेक्खदिट्ठि कुणउप्पसत्थ ॥६॥

ससार में तुल्य और अतुल्य कुछ भी नही है, सत् और असत् कुछ भी नही है। सापेक्षदृष्टि से जो दृष्ट है वही वास्तव में दृष्ट है। इसलिए सापेक्षदृष्टि को प्रशस्त करो।

यस्मिन् पौरुषमर्हति प्रतिपद रेखा स्फुटा नूतना,
यस्मिन् सर्वसमानता प्रतिपद सवान् समाकर्षति।
यस्मिन्नुच्छलति प्रकाममभय भीतानभीतान् सृजन्,
तस्याणुव्रतदर्शनस्य लपता रत्नत्रयी पावना ॥७॥

जिसमें पौरुष पग-पग पर नई रेखाएं सृजन करता है, जिसमें सर्वसमानता का सिद्धान्त सबको आकृष्ट करता है, जिसमें उत्कृष्ट अभय है और भयभीत को अभय बनाने की क्षमता है, उस अणुव्रत दर्शन की यह पवित्र रत्नत्रयी—श्रम, समता और अभय सदा फले-फूले।

यस्मिन्नाग्रहबिन्दवो निपतिता लीना विलीना नये,
यस्मिन् यात्यसहिष्णुता प्रशमनं वैचारिकी प्रोद्धता।
यस्मिन् मानवता प्रयाति समता जात्यादि भेदोज्झिता,
तज्जैनं मनसोनुशासनपरं स्याच्छासनं स्वासनम्॥८॥

जिस विचारधारा की नयपद्धति में आग्रह के बिन्दु पड़कर लीन हो जाते हैं, जिसमें वैचारिकी असहिष्णुता और उद्धता उपशान्त हो जाती है और जिसमें मानवता जाति आदि का भेद त्यागकर समतामय हो जाती है, वह मन पर अनुशासन करने वाला जैन-शासन अपना आसन बने—आधार बने।

२ : महावीरो वर्द्धमानः

मैत्री सर्वजगद्गता विषमता सच्छिन्नमूला यत,
स्वातन्त्र्य स्वगत प्रकाशमभजत् शक्ति स्वकीया विदत्।
जाति लिङ्गमुपेक्ष्य शक्तिमनयद् धर्म प्रसारोचिता,
तस्माद् वीरजिनाज्जगत् प्रतिपल ज्योति रमा स्कन्दताम् ॥१॥

भगवन् महावीर के कारण मैत्री सर्वजगत् व्यापी हो गई। विपमता मूल से ही उखड गई। स्वतन्त्रता को अपनी शक्ति का भान हुआ और उमे प्रकाश मिल गया। धर्म ने जाति और लिंग की उपेक्षा कर प्रसारोचित शक्ति प्राप्त की। उन वीर भगवान् से यह जगत् ज्योति और सम्पदा को सदा प्राप्त करे।

य स्याद्वादो वदनसमये योप्यनेकान्तदृष्टि,
श्रद्धाकाले चरणविषये यश्च चारित्रनिष्ठ।
ज्ञानी ध्यानी प्रवचनपटु कर्मयोगी तपस्वी,
नाना रूपो भवतु शरण वर्द्धमानो जिनेन्द्र ॥२॥

जो बोलने के समय स्याद्वादी, श्रद्धाकाल में अनेकान्तदृष्टि वाले और आचरण-काल में चारित्रनिष्ठ है तथा ध्यानी, प्रवचन-पटु, कर्मयोगी और तपस्वी हैं—इस प्रकार नानारूप वाले वर्द्धमान शरणदाता हो।

आलोकेन प्रसृमररुचोद्भासित येन गूढ,
रूढा श्रद्धा कुमतविततोन्मूलितोल्लासपूर्वम्।
स्याद्वादोत्स प्रभवमगमद् यस्य साम्याचलोच्चात्,
स श्रीवीर प्रगतिसरणौ स्फूर्तिहेतु प्रभूयात् ॥३॥

जिन्होने प्रसरणशील प्रकाश से हृदय को आलोकित किया, जिन्होने कुमत से विस्तृत रूढ श्रद्धा को उल्लास पूर्वक उन्मूलित किया, जिनके समता-पर्वत

से स्याद्वाद का उत्स प्रवहमान हुआ, वे श्री महावीर सुगति के मार्ग में स्फूर्ति के हेतु बनें।

य लोका समुपासते शिवधिया कर्मक्षये दक्षिण,
य ब्रह्मेति जना भजन्ति सतत चारित्रसम्पादकम्।
य नारायणभावतश्च दधते स्याद्वादपाथोधिग,
विश्वात्मा भगवान् पुनातु सकलान् वीरो जिनेन्द्रो महान्॥४॥

कर्मक्षय मे निपुण होने के कारण लोग जिसकी शिवरूप मे उपासना करते हैं, चारित्र का सपादन करने के कारण लोग ब्रह्मा के रूप मे जिसकी सेवा करते हैं और स्याद्वाद-समुद्र का अवगाहन करने के कारण लोग जिसको नारायण के रूप मे धारण करते हैं वह विश्वात्मा भगवान् जिनेन्द्र महावीर सबकी रक्षा करे।

ज्ञात येन प्रवरमतिना नात्मनो ज्ञानमन्यद्,
दृष्ट येनाऽप्रतिहतदृशा नात्मनो दृश्यमन्यत्।
स्पृष्ट येनाऽमलकमनसा नात्मन स्पृश्यमन्यद्,
आत्माद्वैत फलतु स महान् वर्धमानो नगेश॥५॥

जिस प्रवरमति वाले महावीर ने आत्म-ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं जाना, जिसने अप्रतिहत दृष्टि से आत्मा के सिवाय दूसरा कोई दृश्य नही देखा, जिसने पवित्र मन से आत्मा के अतिरिक्त दूसरा स्पृश्य नही माना, वह वर्द्धमानरूपी आत्माद्वैत का महान् वृक्ष सतत फलवान् हो।

श्रद्धाभूमौ वपतु विमल वीजमाचारवल्ल्या,
सम्यग्ज्ञानोदकपृषतकै सिञ्चतु स्त्यानदृष्ट्या।
एषा मुक्ति कृषिसुकुशले भारते येन गीता,
शश्वद् गेयो भवति भगवान् वर्द्धमानो धृतात्मा॥६॥

लोग श्रद्धा की भूमि मे आचार की वल्ली का विमल वीज वोए और उसे सघनदृष्टि से सम्यग् ज्ञानरूपी पानी की बूदो से सीचें। कृषि-प्रधान भारत मे जिस व्यक्ति ने इनकी युक्ति का शश्वद् गान किया, वह है धृतात्मा भगवान् वर्द्धमान।

युक्तात्मा ज्ञातपुत्रो जगति मनस सर्वयोगैर्विमुक्त,
शब्दात्मा व्यक्तरूप सहजसुषमोऽव्यक्तरूपो निजात्मा।

नित्यानित्यादिभङ्गानविकलकलानाकलय्याप्तचक्षु-
र्मूर्त्तामूर्त्तस्वरूपो भवतु भगवान् सिद्धये वर्द्धमान.॥७॥

मुक्तात्मा ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर मन की समस्त प्रवृत्तियो से मुक्त हो गए। उनकी जो स्व-आत्मा है वह सहज सुषमायुक्त तथा अव्यक्तरूप है और जो शब्दात्मा है वह व्यक्तरूप है। वे पदार्थ के निन्य-अनित्य आदि विकल्पो को समस्तरूप से ग्रहण कर आप्तदृष्टिवाले हो गए। मूर्त और अमूर्त स्वरूप वाले वे भगवान वर्द्धमान सिद्धि के लिए हो।

३ : आचार्यस्तुतिः

त्वय्यासक्तो भवति भगवन्! नैष लोको हि रक्तो,
रक्तोऽन्यस्मिन् भवति सहसा त्यक्त एव त्वयाऽपि।
पक्षोपक्षिण्यपि भवति यत्तद् विचित्रं क्व चित्रं,
रङ्गाजीवो नभसि न नयेत्तूलिकां रङ्गलिप्ताम् ॥१॥

भगवन्! जो व्यक्ति आप मे आसक्त हो जाता है, वह दूसरो मे रक्त नही होता। जब वह आपसे त्यक्त होता है, तभी वह दूसरे पदार्थों के प्रति रक्त होता है। जो अपक्षपाती है उसमे भी यदि पक्षपात होता है तो वह आश्चर्य है। चित्रकार रग से लिप्त अपनी तूलिका को शून्य आकाश मे न चलाए इसमे आश्चर्य ही क्या है।

सदुत्साहाहूतः पथि पथि नयन् सत्कृतिभरं,
प्रतीक्षामारूढो हृदयशुभभावैः परिवृतः।
वितन्वन्नामोदं प्रवरतरकाव्यैरभिहितः,
समायातः सश्रीतुलसिगणिपट्टोत्सव इव ॥२॥

आज आचार्य तुलसी का पट्टोत्सव है। वह सद् उत्साह से आमत्रित, पग-पग पर सत्कार का भार वहन करता हुआ, प्रतीक्षा के पखो पर आरूढ, हृदय के शुभ भावो से परिवृत, आमोद को बिखेरता हुआ और सुन्दर काव्य-कल्पनाओ से वर्णित है।

गतिं धर्मोऽधर्मः स्थितिमिव नभो वाश्रयमिव,
ददत्संघस्योच्चैः समय इव सञ्चालनपरः।
प्रयच्छन् व्यापारं सकलमपि वा पुद्गल इवा-
नुभूतिं चैतन्यं ध्रुवमिह जयन्नस्ति तुलसी ॥३॥

आचार्य तुलसी विश्व-निर्माण के घटक छह तत्त्वो के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वे धर्मास्तिकाय के रूप में सघ को गतिशील, अधर्मास्तिकाय के रूप में स्थिति

मान्, आकाशास्तिकाय के रूप में आश्रययुक्त बना रहे हैं। वे काल के रूप मे सघ को सचालित और पुद्गल के रूप मे विभिन्न प्रवृत्तियो से व्यापृत कर रहे हैं। वे चैतन्य के रूप मे अनुभूति दे रहे हैं। इस प्रकार उनका कृति-कौशल उन्हें विजयी बना रहा है।

छायाया विस्तृताया त्वत्,
कीर्त्तेर्लोकेऽखिले विभो ! ।
शनैश्चरोऽभवच्छाया-
सुतो ज्ञातु स्वमातरम् ॥४॥

देव ! सम्पूर्ण विश्व में आपकी कीर्ति की छाया इतनी विस्तृत हो गई कि छाया का पुत्र (शनिश्चर) भी अपनी मा छाया को पहचानने के लिए धीरे-धीरे चलने लगा—शनैश्चर हो गया।

रति प्रिया मेऽस्य महामतेरपि,
पञ्चाशुगा· पञ्चयमाश्च पत्रिण ।
पौष्प धनु. शान्तिधनुर्मृदुव्रत,
भीरुर्जरायाश्च विभेत्यसावपि ॥५॥

स्या शवराङ्कोपि च सवरध्वजः,
स्या शवरद्वेष्यपि सवराहित ।
महोत्सवोऽह च महोत्सवोप्यय,
विश्व विजेतु च समुत्सुकावुभौ ॥६॥

साम्येक्षणादित्थमय सहायको,
ममेति बुद्धया न मया ह्युपद्रुतम् ।
अथाधुना लब्धसमग्रविक्रमो,
वशवद· स्यादिति मे न दृश्यते ॥७॥

समूलमुन्मूलयितु च चेष्टन,
विधोयते प्रत्युत हाह ! मामपि।
योह न शक्रादिभिरेव वञ्चितः।
स विप्रलब्धोस्मि महात्मनाऽमुना ॥८।

कामदेव ने आचार्यतुलसी से तुलना करते हुए सोचा—'रति मेरी प्रिया है और इन महामति के भी रति (सयम मे रति) प्रिया है। मेरे पाच बाण हैं तो इनके भी महाव्रत रूपी पाच बाण हैं। मेरा धनुष्य पुष्प से निष्पन्न है तो इनका धनुष्य शाति और मृदुता से निष्पन्न है। मैं बुढापे से भयभीत हू तो ये भी बुढापे से भयभीत हैं। मेरा चिह्न शवर (मत्स्य) है और इनका चिह्न भी सवर है। मैं शवर (एक राक्षस) का शत्रु हू और ये सवर—शरीर के शत्रु हैं। मैं भी महोत्सव हू और ये भी महोत्सव हैं। हम दोनो विश्व (मे सम्पूर्ण प्राणी-जगत् को और ये सम्पूर्ण इन्द्रिय-जगत्) को जीतने के लिए उत्सुक हैं।' इस प्रकार मेरी और इनकी समता है। यह सोचकर मैंने इनको अपना सहायक माना और इन्हे उपद्रुत—पीडित नहीं किया। आज ये पूर्ण पराक्रम-युक्त हो गए, अत ये मेरे वश मे नही आ सकते। अरे! ये तो मुझे समूल उखाडने के लिए प्रयत्नशील हैं। मैं इन्द्र आदि से भी नही ठगा गया किन्तु इन महामना से ठगा गया हू।

कलावता स्यात् प्रथमोऽयमर्च्यो-
स्म्यह द्वितीयस्त्विवति चिन्तयार्त्त ।
चन्द्रोस्ततन्द्रो भ्रमति ह्य्पापि,
क्षीण पुनस्तत् प्रकटीकरोति ॥६॥

चन्द्रमा ने सोचा—'आचार्य तुलसी कलावान् व्यक्तियो मे प्रधानरूप से पूजनीय हैं और मेरा स्थान दूसरा है क्योकि मेरी पूजा द्वितीया को होती है।' उसकी नीद उड गई और वह रात को भी इधर-उधर भटकने लगा। वह क्षीण होता है, उपचित होता है। यह क्रम चलता जाता है।

अन्ये गुणा स्युस्त्वयि भूरयोऽपि,
नयानुगा तत्र ममापि दृष्टि ।
स्तोष्येऽहमद्य क्रमयुग्ममेव,
यदास्पद मे मनसे ददाति ॥१०॥

आपमे और-और भी अनेक गुण हैं। मेरी दृष्टि भी अब नीति की अनुगामिनी हो गई है। अब मैं आपके चरण-युगल की ही स्तवना करूगा क्योकि वह मेरे मन को आधार दे रहा है।

केचिद् विशाल हृदय मनन्ति,
केचिन् मन के च लसल्ललाटम् ।

पर त्वहं तु क्रममेव मन्ये,
पर सहस्राङ्घ्रि मनोनिवासात् ॥११॥

कुछ व्यक्ति आपके हृदय को विशाल बताते हैं, कुछ आपके मन को और कुछ आपके सुन्दर ललाट को। किन्तु देव! मैं तो आपके चरणो को ही विशाल मानता हू जहा कि हजारो-हजारो व्यक्तियो के मन निवास करते हैं।

वाणी पवित्र विदधाति कर्णं,
स्तुती रसज्ञा नयन च मूर्त्ति.।
पर तु सर्वोत्तममुत्तमाङ्ग,
पुनाति पुण्यश्चरणस्तवासौ ॥१२॥

देव! आपकी वाणी कानो को, स्तुति जिह्वा को और दर्शन आखो को पवित्र करता है। किन्तु सभी अगो मे उत्तम सिर को पवित्र करने वाले तो आपके चरण ही हैं।

उदारताप्यस्य मुदा प्रशस्या,
स्वय प्रयास वहुल सहित्वा।
शान्ति परस्मै वितरत्यतुच्छा,
ततो हि पूत धरिणीतलञ्च ॥१३॥

इन चरणो की उदारता भी भूरि-भूरि प्रशसनीय है। ये स्वय वहुत आयास सहन करके दूसरो को विपुल शाति प्रदान करते हैं। इसीलिए यह पृथ्वीतल इनसे पवित्र हो रहा है।

आभ्यन्तरध्वान्तहर प्रकाश,
सौम्य निरङ्क त्रसन निपक्षम्।
वुद्धि च विद्या परमाप्तगन्त्री,
नीर्ति पवित्रा दमन निखर्वम् ॥१४॥

भास्वान् हिमाशुर्महिजो वुधश्च,
गुरु कवि. शौरिरिमेऽनुसख्यम्।
सप्ताऽपि वारा इह बद्धवारा-
स्त्वा यान्ति पूर्वोदितमाप्तुकामा ॥१५॥

सातो बार जिज्ञासु होकर वारि-वारि से तुम्हारे सामने प्रस्तुत हो रहे हैं—

१ सूर्य—आन्तरिक अन्धकार को नष्ट करने की कला का जिज्ञासु।

२ सोम—निष्कलक सौम्य की कला का जिज्ञासु।

३ मगल—पक्षपातशून्य दास की कला का जिज्ञासु।

४ बुध—बुद्धि का जिज्ञासु।

५ गुरु—अध्यात्म विद्या का जिज्ञासु।

६ शुक्र—पवित्र नीति का जिज्ञासु।

७ शनि—तुच्छता-रहित दमन-कला का जिज्ञासु।

मतिश्रुतज्ञानयुतस्त्वमीश !,
श्रीकेवलज्ञानयुतोऽहमस्मि।
त्व वेत्सि भावान् विविधान् विशिष्टान्,
त्वामेवजानाम्यहमात्मरूपम् ॥१६॥

देव ! आप मति और श्रुत ज्ञान के धनी हैं इसीलिए आप विविध भावो—अनेक शिष्यो को देखते हैं। मैं केवलज्ञान—एक ज्ञान से युक्त हू, अत मैं केवल आपको ही देखता हू।

प्रतिक्षण त्वा च निरीक्षमाण,
स्म केवलज्ञानयुतो भवामि।
स्यान्नान्तरायो नियमस्त्वयेति
सिद्धान्तसिद्ध प्रतिपालनीय ॥१७॥

केवली का ज्ञान अबाधित और निरन्तर होता है। मैं इसीलिए केवलज्ञान से युक्त हू कि मैं प्रतिक्षण आपको देखता रहता हू। इसमे कही अतराय न आए इसलिए सिद्धान्त-सिद्ध इस नियम का आपको पालन करना है।

४ : सिद्धस्तवनम्

नाथ ! मयि कुरु करुणादृष्टिं, दर्शयानन्दमयीं सृष्टिम् ।।

जगति परितोऽपि भाति कष्टं, क्वापि नानन्दपदं दृष्टम् ।
मोहमणिमारुणिमाकृष्टं, मानसं मुग्धमिदं स्पष्टम् ।
परमेश्वरपरमौषधं, शान्तिमयं प्रविदाय,
संहर संहर मोहरुजं मे, प्रयते तेन हिताय,
आयतौ प्रणये तव सृष्टिम् ।।१।।

शमथपीयूषरसं पीत्वा, वासनां विषययुतां हित्वा ।
नन्दनां चिद्रूपां नीत्वा, मोहरिपुमेव झटिति जित्वा ।
वीतरागपदमुज्ज्वलं, स्वात्मगुणौज्ज्वल्येन,
केवलकमलाललितं कलितं, शुक्लध्यानबलेन ।
येन तत्रैसि सदा हृष्टिम् ।।२।।

यत्र नो जन्मजरामरणं, नो भयं नैव शोककरणम् ।
विद्यते किञ्चिन्नावरणं, लोक्यते निखिलजनाचरणम् ।
तत्तव मन्दिरमद्भुतं, द्रष्टुं लोलुप एव,
लौकिकसदननिभालनमुहितो, धृत्वाहं स्वयमेव,
देव ! तव नाममयीं यष्टिम् ।।३।।

अक्षयं विगतरुजं स्थानं, ज्योतिरुज्ज्वलितं ह्यम्लानम् ।
किन्तु नो सन्निहितं यानं, स्याद् यतो मे हि तत्र यानम् ।
उन्नतशाखामाश्रितस्तव करुणोर्विरुहस्य,

याया मातृर्महि सुमनोज्ञा, स्वामिन् ! शिवनगरस्य,
शस्यगुण ! देहि तदाकृष्टिम् ॥४॥

असकृदुत्पादयते सेह, विकृतयत्यनुत्तर देहम् ।
कर्हिचित् सिञ्चति सत्स्नेह, कर्हिचिच्छोषयते गेहम् ।
आकण्ठ खिन्नोऽभव, कर्मकृषककार्येण,
सामर्थ्यं पुनरुद्भवनस्य, स्यान्नष्ट भुवने न,
येन मयि कुरु तादृग्वृष्टिम् ॥५॥

केवल मृगतृष्णाक्रान्तस्तत इतो भूरितर भ्रान्त ।
प्रचुरतरसुखलिप्साक्लान्त क्वापि नाह भगवन् श्रान्त ।
सप्रति तव चिच्चेतसा, मैत्री प्रमुदा वाप्य,
चिदानन्दरूपे रज्येह, तृष्णामपि च समाप्य,
प्राप्य तव मन्दिरे प्रविष्टिम् ॥६॥

त्वमसि मे प्राणधन स्वामी, त्वमसि मे ह्यदयान्तर्यामी ।
त्वामह न यथा विभजामि, तादृशी वाञ्छा विदधामि ।
युष्मदष्मदोरन्तर दूर सपदि सृजामि,
त्वमिति रूपमह नथमल्लस्त्वयि मिलितोनुभवामि,
यामि तामेवपरामृष्टिम् ॥७॥

भगवन् ! तुम मेरे पर करूणा-दृष्टि करो और मुझे आनन्दमय सृष्टि दिखाओ ।

जगत् मे चारो ओर कष्ट हैं, कहीं आनन्द नही दीख रहा है। यह मन मोह की महिमा की अरुणिमा से आकृष्ट है और स्पष्टतया उसी मे मूढ है। प्रभो ! तुम मुझे शाति प्रदान करने वाली, परम ईश्वररूपी उत्कृष्ट औषध देकर मेरे मोह रोग को नष्ट कर डालो ताकि मैं अपने आत्म-हित के लिए प्रयत्न कर सकू और भविष्य मे तुम्हारे अनुशासन का पालन कर सकू ।

उपशमरूपी अमृतरस को पीकर, विषय-सपृक्त वासना को छोडकर, चिद्रूप आनन्द को प्राप्त कर तथा मोह-शत्रु को शीघ्र ही जीतकर मैं आत्मगुणो की

उज्ज्वलता से निष्पन्न शुक्लध्यान के बल से केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी से ललित और निष्पन्न परम उज्ज्वल पद को प्राप्त करू, जिसके द्वारा तुम सदा आनन्द को प्राप्त करते हो।

भगवन् ! तुम्हारा स्थान अद्भुत है। वहा जन्म, जरा, मरण, द्वन्द्व, शोक और आवरण नही है। तुम समस्त व्यक्तियो के आचरणो को देखते हो। देव ! मैं लौकिक सदनो को देख-देख कर तृप्त हो चुका हू। अब मैं तुम्हारी नाम-रूपी यष्टि को स्वय हाथ मे धारण कर उस विचित्र सदन को देखने के लिए लालायित हू।

देव ! तुम्हारा स्थान अक्षय, अरुज, ज्योतिर्मय, उज्ज्वल और अम्लान है किन्तु मेरे पास कोई यान नही है जिससे कि मैं वहा पहुच सकू।

तुम्हारे करुणारूपी वृक्ष की उन्नत शाखाओ पर आरूढ होकर मैं शिवपुरी की भूमि पर चला जाऊ। हे शस्यगुण ! उस ओर जाने का मुझे आकर्षण दो।

देव ! ये कर्म बहुत बार मेरे मे आकाक्षा पैदा करते हैं और मेरे शरीर को बार-बार विकृत कर देते हैं। ये कर्म कभी मुझ मे सत् स्नेह का सिंचन करते हैं तो कभी मेरे समूचे घर का ही शोषण कर देते हैं। देव ! मैं इन कर्म-रूपी कृषक के कार्यो से आकठखिन्न हो गया हू। हे भुवनेश ! पुनर्जन्म का सारा सामर्थ्य नष्ट हो ऐसी वृष्टि मुझ पर करो। देव ! मैं केवल मृगतृष्णा से आक्रान्त होकर इधर-उधर घूमता रहा हू। सुख की प्रचुर लिप्सा से क्लान्त मैंने कही भी विश्राम नही पाया।

भगवन् ! अब मैं तुम्हारे चिन्मय चित्त के साथ प्रमोदभाव से मैत्री कर, समस्त तृष्णाओ को समाप्त कर तुम्हारे मदिर मे प्रवेश पाकर तुम्हारी आत्मा के चिदानन्द स्वरूप मे अनुरक्त हो जाऊ।

देव ! तुम मेरे प्राणधन हो। तुम मेरे हृदय के अन्तर्यामी हो। मैं तुमसे भेद न करू—ऐसी वाछा करता हू। 'मैं' और 'तुम'—इस अन्तर को दूर करू। मैं तुममे मिलकर 'मैं' 'तुम' ही हू—ऐसा अनुभव करू। प्रभो ! मैं ऐसा ही परामर्श प्राप्त करू।

(वि० स० १९९९ चातुर्मास, चूरू)

५ : भिक्षुगुणोत्कीर्त्तनम्

(मल्हाररागेण गीयते)

सुरतरुमिव कामितदातारं, दातारं जगदाधारम्।
सततं स्मृतिपथमायातमपि, त्वां स्मरामि भगवन्नधुना,
नय नावं मे भवजलपारम्॥

विद्वानेव प्रभो ! तव सद्गुणगरिमाणं जानाति।
गोपालः खलु मणिमहिमानं, न च कथमप्यनुमाति।
प्रतिपलममलमहं त्वत्स्तवनं, हृदि विदधे मालाकारम्॥१॥

अङ्किता हि हृदये सकला अपि, सन्ति गुणास्तव देव !।
किन्तु न शक्तः स्यामङ्कयितुं, वाक्पत्रे तानेव।
किञ्च कोपि मनुजो घटमध्ये, प्रक्षिपेत पारावारम्॥२॥

इयं रसज्ञा तदपि हि तव गुणगानरसं विज्ञाय।
चरितार्थी कुरुतान्निजसंज्ञामज्ञानं च विहाय।
इति भावनया कुर्वे स्वामिन् ! मुदितमना इह संचारम्॥३॥

काञ्चनसानुमतस्तुलनायां, कोन्यो गिरिरायाति ?
रविमण्डलकिरणावलिपुरतस्तेजस्वी को भाति ?
आत्मबलाढ्यजनानां मध्ये, कुर्वे प्राक् तव सत्कारम्॥४॥

अज्ञजनैर्निन्दामयवाचा सङ्गीतं यदधीश !।
तत्तव नाम मनोहरमद्य, स्तुतिमयमस्ति मुनीश !।
भिल्ल्यौज्झितमपि मौक्तिकमच्छं तज्ज्ञजनानां स्यात्सारम्॥५॥

वीरतुलामधिरोढु सम्यक्, त्व चार्हसि दैपेय ! ।
साधुसमाजे स्थापितसीमन् ! कष्टप्रकराजेय ! ।
एतावेव गुणौ कुर्वाते, तव सर्वत्राप्यधिकारम् ॥६॥
चित्रकारिणी प्रतिभा तव तद्, विहिता सङ्कलनाऽथ ।
सकलविपश्चिच्चेतसि रमतामित्याशासे नाथ ! ।
मोदेऽह नथमल्ल शिरसा, ता च सदा धार धारम् ॥७॥

प्रभो ! तुम कल्पवृक्ष की भाति मनोकामना पूर्ण करने वाले हो। तुम दाता और जगत् के आधार हो। तुम सदा मेरे स्मृति-पथ मे बने रहते हो। फिर भी आज मैं तुम्हारी स्मृति कर रहा हू। देव ! तुम मेरी नौका को भव-पार पहुचा दो।

विभो ! तुम्हारे सद्गुणो की गरिमा को विद्वान् ही जानता है। ग्वाला मणि की महिमा का अनुमान कैसे करेगा ? मैं तुम्हारे पवित्र स्तवन को हृदय मे माला के रूप मे धारण करता हू।

देव ! तुम्हारे सभी गुण मेरे हृदय मे अकित हैं। किन्तु मैं उन गुणो को वाणी के पत्र मे अकित नही कर सकता। क्या कोई मनुष्य घडे मे समुद्र को भर सकता है ? नही। तो भी यह जिह्वा तुम्हारे गुणगान के रस को जानकर अज्ञान को छोड, 'रसज्ञा' इस प्रकार की अपनी सज्ञा (नाम) को चरितार्थ करे। स्वामिन् ! प्रसन्न होकर मैं इसी भावना से यहा (तुम्हारे स्तुति-लोक मे) सचरण कर रहा हू।

मेरु पर्वत की तुलना मे दूसरा कौन-सा पर्वत आ सकता है ? सूर्य-मडल की किरणो के सामने कौन तेजस्वी जान पडता है ? आत्मबल से सम्पन्न व्यक्तियो मे मैं पहले तुम्हारा सत्कार करता हू। हे अधीश ! अज्ञानी व्यक्तियो ने निन्दामय वचनो के द्वारा तुम्हारे लिए जो कुछ कहा है, वही तुम्हारा नाम आज सुन्दर और स्तुतिमय हो रहा है। भीलनी के द्वारा त्यक्त निर्मल मोती, उसके मूल्य को जाननेवाले के लिए सारभूत हो जाता है।

दैपेय ! तुम भगवान् महावीर की तुलना मे आ सकते हो। हे साधु समजा मे मर्यादा की स्थापना करने वाले ! हे कष्ट से अजेय !—ये तुम्हारे दो गुण (मर्यादा का निर्माण और कष्ट-सहिष्णुता) सर्वत्र अधिकार किए हुए हैं।

प्रभो ! तुम्हारी प्रतिभा विलक्षण थी। तुम्हारे द्वारा सकलित वाणी सभी विद्वानो के चित्त में रमण करे, यही मैं आशा करता हू। मैं उस वाणी को सदा अपने सिर पर धारण करता हुआ प्रसन्न रहता हू।

(वि० स० १९९९, चातुर्मास, चूरू)

६ · कालूकीर्त्तनम्

(पज्झटिकावृत्तानि)

श्रीमज्जिनशासनभर्त्तारं भैक्षवगणवीवधधर्त्तारं।
जिनपतितुल्यं पुण्याधारं, स्मर नितरामयि कालूरामम् ॥

हृतनिजतेजस्कारुणकान्तिं वदनाम्भोजे राजितशान्तिम्।
दुःखितदेहभृतां विश्रामं, स्मर नितरामयि कालूरामम् ॥१॥

सुरतरुतोप्यधिकं दातारं, निकटीकृतभवसागरपारम्।
तनुसौन्दर्यैस्तर्जितकामं, स्मर नितरामयि कालूरामम् ॥२॥

श्रुतमेव कर्त्ता स्यादन्यस्त्रातापरो विदुषां त्वन्यः।
नाशयितापरोस्ति प्रकामं, स्मर नितरामयि कालूरामम् ॥३॥

स्वामिन्निति लोकोक्तिः स्फीता, सा त्वयका विहिता विपरीता।
त्वयि शक्तित्रयमस्ति निकामं, स्मर नितरामयि कालूरामम्॥४॥

श्रेयांस्युत्पादयसे विरतं, दुःखाद् रक्षसि संसृतिविरतम्।
नाशयसे कर्माण्यविरामं, स्मर नितरामयि कालूरामम् ॥५॥

गुरुवर्यं समतामृतपीनं, नथमल्लोर्हत्पट्टासीनं।
हर्षति सुतरां नाम नामं, स्मर नितरामयि कालूरामम् ॥६॥

श्रीजिनशासन के स्वामी, भैक्षव गण के भार को धारण करने वाले, जिनपति के सदृश तथा पुण्य के उपवन श्री कालूगणी का तुम सदा स्मरण करो।

उन्होंने अपने तेज से सूर्य की कान्ति का हरण किया है। उनके मुख-कमल पर शांति विराजित है। वे दुःखी प्राणियों के लिए विश्रामस्थल हैं, तुम सदा उनका स्मरण करो।

वे कल्पवृक्ष से भी अधिक देने वाले हैं। वे भवसागर को पार करने के निकट पहुच चुके हैं। उन्होने अपने शारीरिक सौन्दर्य से कामदेव को भी लज्जित कर दिया है। तुम सदा उनका स्मरण करो।

ऐसा सुना है कि कोई एक व्यक्ति कर्त्ता होता है, दूसरा त्राता और तीसरा नष्ट करने वाला।

स्वामिन्! यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। किन्तु तुमने इसे अन्यथा कर डाला है। तुममे ये तीनो शक्तिया—कर्तृत्व, रक्षण और नाश—विद्यमान हैं। प्राणियो! तुम सदा उनका स्मरण करो।

तुम कल्याण उत्पन्न करते हो। जो ससार से विरक्त हैं उन्हे दुःख से बचाते हो और अपने कर्मों का अविराम नाश करते हो। भव्यो! तुम सदा उनका स्मरण करो।

समता के अमृत से पुष्ट, अर्हत् पट्ट पर आसीन गुरुदेव को बार-बार वदना करता हुआ मैं प्रमुदित होता हू। तुम सदा उनका स्मरण करो।

७ : श्रीतुलसीस्तवः

(पालय पालय रे—इति रागेण)

तुलसीस्वामिस्ते महिमा सुतरा गेय ।।
कल्पनया स्तवना तव भगवन् ! विदधति मुनयोऽनन्याम् ।
किन्तु करिष्ये वस्तुतयाऽह, पुण्यामनुभवजन्याम् ।।१।।

एक एव भगवानिह समये, तत्त्वविवेचनकर्त्ता ।
त्व त्रिभुवनससृतशुभकीर्त्तिर्भैक्षवशासनभर्त्ता ।।२।।

एको वक्ता द्वैतीयीक, स्याद्वादाश्रययुक्ति ।
निजतरसाप्यविलघ्यश्चक्री, चक्रयुतस्य किमुक्ति ।।३।।

हृत्तव योगाल्लघुभूत कृतकर्मकविविधवियोगम् ।
उपकृत्या विहित गुरु तेनाऽमुक्तचरणसयोगम् ।।४।।

निपुणजनेभ्यो बोध दातु, निपुणगणो बहुरस्ति ।
मत्सन्निभबालाय तु भगवन्नस्ति तवैव प्रशस्ति ।।५।।

चित्र मुनिनथमल्ल कृतवान्, साहसमेतमपारम् ।
वर्णवचनगणनातीत ते, गातुमतुलमुपकारम् ।।६।।

हे तुलसी स्वामिन् ! तुम्हारी महिमा नितान्त गेय है। भगवन् ! कल्पना से अनेक मुनि तुम्हारी स्तवना करते हैं। किन्तु मैं अपने अनुभवो से उद्भूत, कल्याणकारी और यथार्थ तथ्यो से तुम्हारी स्तवना करूगा।

भगवन् ! वर्तमान मे तुम ही एक तत्त्व-विवेचक, तीनो लोको मे विस्तृत शुभ कीर्तिवाले और भैक्षव-शासन के पालक हो।

तुम एक तो वक्ता हो और दूसरे मे तुम्हारे पास स्याद्वाद की प्रबल युक्ति है। चक्रवर्ती अपने बल से ही अजेय होता है। उसके हाथ मे चक्र हो, फिर तो कहना ही क्या ?

आपके योग से मेरा हृदय विविध कर्मों का क्षय कर लघु हो गया किन्तु आपके उपकार ने उसे पुन गुरु बना दिया। इसीलिए उसके चरण भूमि पर टिके हुए हैं।

निपुण व्यक्तियो को प्रतिबोध देने के लिए अनेक निपुण लोग हैं, किन्तु मेरे जैसे बालक को प्रतिबोध देने के लिए तो भगवन् ! तुम्हारी ही प्रशस्ति गायी जाएगी।

मैंने तुम्हारे वर्णनातीत, वचनातीत और गणनातीत उपकार को गाने के लिए (इस स्तवना के माध्यम से) अपार साहस किया है।

••